श्रीपूज्यपादाचार्य-विरचित

समाधितंत्र

(सटीक)

सम्पादक
जुगलकिशोर मुख्तार

प्रकाशक
वीरसेवामन्दिर

अनुवादक
परमानन्द शास्त्री

वीरसेवामन्दिर-ग्रन्थमालाका प्रथम ग्रन्थ

श्रीमत्पूज्यपादाचार्य-विरचित

समाधितंत्र

टीकाद्वय-संयुक्त

अर्थात्

श्रीप्रभाचन्द्राचार्यकृत संस्कृतटीका और
पं० परमानन्द जैनशास्त्रिकृत सान्वयार्थ
हिन्दी टीकासे अलंकृत

सम्पादक

जुगलकिशोर मुख्तार

अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'

प्रकाशक

'वीर-सेवा-मन्दिर'

सरसावा जि० सहारनपुर

प्रथम संस्करण } वीरनिर्वाण-संवत् २४६५ { मूल्य
११०० प्रति } वि० सं० १९९६, सन् १९३९ { आत्म-विचार

विषय-सूची

The Vikas, Printing Works, Saharanpur.

समर्पण

जिनकी सत्प्रेरणाको पाकर मैं इस 'समाधितंत्र'
ग्रन्थके अनुवाद-कार्यमें प्रवृत्त हुआ और
सफलता-पूर्वक उसे समाप्त किया उन
धर्मप्रेमी, विद्यानुरागी, परोपकारपरायण,
त्यागमूर्ति, पूज्य बाबा **भागीरथजी**
वर्णीके कर-कमलोंमें अपना यह
अनुवाद सादर समर्पण
करता हूं।

—

विनीत
परमानन्द जैन

—

ग्रन्थके प्रकाशनमें धनकी सहायता देनेवाले सज्जन

इस ग्रन्थके प्रकाशनमें बाबा भागीरथजी वर्णीको प्रेरणाको पाकर जिन सज्जनोंने धनकी सहायता प्रदान की है वे सब धन्यवादके पात्र हैं। उनके शुभ नाम सहायता की रकम सहित इस प्रकार हैं :—

१२५) श्रीजैनस्त्री-समाज, पहाड़ी धीरज, देहली।

१००) श्रीमती शकुन्तला देवी, सुपुत्री ला० माडेलालजी जैन रईस खनौली जि० मुजफ्फरनगर, धर्मपत्नी रायसाहब बाबू किशनलाल जी एडवोकेट कानपुर।

५०) श्रीमती जैनमती देवी, सुपुत्री उक्त ला० माडेलालजी, धर्मपत्नी ला० दर्शनलालजी रईस देहरादून।

४०) श्रीमती रामप्यारीजी, माता ला० कन्हैयालाल जैन हलवाई घंटेवाला, देहली।

४०) ला० स्वरूपलालजी ठेकेदार, बरनावा जि० मेरठ।

---

३५५) जोड़

—प्रकाशक

प्रकाशकके दो शब्द

दो वर्षसे कुछ ऊपर हुए श्रद्धेय बाबा भागीरथजी वर्णी वीर-सेवामन्दिरमें पधारे थे और कोई साढ़े तीन महीनेके करीब ठहरे थे। उस समय आपने इस ग्रन्थ-को संशोधनादि-पूर्वक छपा देनेका काम मेरे सुपुर्द किया था। वीरसेवा-मन्दिरकी नई व्यवस्थाओंके वश अनवकाशसे लगातार घिरा रहनेके कारण मुझे कुछ अर्से तक भाषा टीकाको जाँचने और उसमें उचित संशोधन कर देनेका कोई अवसर नहीं मिल सका। कार्यको प्रारम्भ करनेपर भी बीचमें अनेक बाधाएँ उपस्थित होती रहीं। आखिर १४ जून सन् १९३८ को १६ रिम कागजकी-बिल्टी-सहित ग्रन्थ प्रेसमें दिया गया और उसकी आधेके करीब साफ प्रेस-कापी उसी समय प्रेसके हवाले की गई और शेष बादको भेजी जाती रही। जिस प्रेसकी योजना की गई उसकी अच्छी ख्याति थी और यह आशा थी कि वह समयपर अपने वादेके अनुसार काम देगा—वादा भी अधिकसे अधिक डेढ महीनेके भीतर ग्रन्थको छापकर देदेनेका हो गया था। परन्तु प्रेस एक लिमिटेड कम्पनीका प्रेस होते हुए भी बहुत ही गैरजिम्मेदार तथा अपने वादोंका कच्चा निकला—उसने एक दिन भी अपना वचन पूरा करके नहीं दिया! हां, इस बीचमें वह कुछ आपत्तियोंसे भी घिरा रहा है। कहा जाता है कि ये आपत्तियां उसे अपनी पूर्वमें की हुई कुछ राजनैतिक सेवाओंके उपलक्षमें उठानी पड़ी हैं, जिससे वह क्षमाका पात्र अवश्य है। अस्तु; प्रेसके कारण मुझे बहुत ही हैरान व परेशान होना पड़ा—आमियों बार स्वयं सहारनपुर जाना तथा पं० परमानन्दजी आदिको भेजना पड़ा—और उसीका फल है कि यह ग्रन्थ इतने अधिक विलम्बसे प्रकट हो रहा है। इस विलम्बमें अधिक नहीं तो ११ महीनेके विलम्बका जिम्मेदार प्रेस जरूर है। इस आशातीत विलम्बके कारण उक्त बाबाजी-को तथा ग्रन्थके प्रकाशनमें धनकी सहायता देने वालोंको जो प्रतीक्षाजन्य कष्ट उठाना पड़ा है और बाबाजीको जो विशेष आकुलता रही है उसके लिये मैं सबसे पहले क्षमा-प्रार्थी हूँ। आशा है वे मेरी इस मजबूरीके कारण मुझे जरूर क्षमा करेंगे।

यद्यपि प्रेसकी गड़बड़के कारण ग्रन्थकी छपाई मेरे मनोऽनुकूल नहीं हो सकी, फिर भी इस ग्रन्थकी संस्कृत टीकाके साथ जो हिन्दी टीका प्रकाशित हो रही है वह अब तकके प्रकाशित अनुवादोंसे कहीं अच्छी तथा विषयको स्पष्ट करने वाली है। साथमें प्रस्तावना भी कुछ कम उपयोगी नहीं है; एक अच्छी स्पष्ट विषयानुक्र-मणिका और मूलकी पद्यानुक्रमणिका भी साथमें लगा दी गई है। इस तरह ग्रन्थका यह संस्करण अच्छा उपयोगी बन गया है। यह सब देखते हुए पाठकोंका ध्यान छपाई-सम्बन्धी त्रुटियों पर अधिक नहीं जायगा, ऐसी आशा है।

यह ग्रंथ बाबा भागीरथजी की इच्छानुसार ही मोटे टाइपोंमें छपाया गया है, जिससे वृद्धावस्थादिके कारण मंद दृष्टि वाले भी यथेष्ट लाभ उठा सकें, और खुशी की बात है कि बाबाजी को यह सब प्रकारसे पसन्द आया है।

मूल ग्रन्थ कितने अधिक महत्वका है और अपनी क्या कुछ विशेषता रखता है यह सब मैंने प्रस्तावनामें प्रकट कर दिया है, उसे यहां फिरसे दोहरानेकी जरूरत

नहीं है। मुझे तो यह ग्रन्थ बड़ा ही मंगलमय मालूम होता है, और इसी लिये वीर-सेवा-मन्दिरसे प्रकाशित होनेवाली ग्रन्थमालामें मैंने इसे मङ्गलाचरणके तौरपर प्रथम स्थान दिया है।

मुझे यह प्रकट करते हुए बड़ा आनन्द होता है कि बाबा भागीरथजी वर्णीने इस ग्रन्थकी कुछ प्रतियाँ दातारों—प्रकाशनमें धनकी सहायता देनेवालों—तथा बनारस और सागरके विद्यालयोंके लिये नियत करके शेष सब प्रतियां वीर-सेवा-मन्दिरको इस लिये अर्पण करदी हैं कि वे उसके द्वारा 'अनेकान्त'के ग्राहकोंको उपहारमें दी जासकें और दूसरा भी उनका अच्छा उपयोग, योग्य विद्वानोंको भेंटादिके रूपमें होसके। इसके लिये वीर-सेवा-मन्दिर और अनेकान्त-कार्यालय श्रद्धेय बाबा भागीरथजी वर्णीके बहुत आभारी हैं और मैं दोनोंकी ओरसे उन्हें इस उदार विचारके लिये सादर धन्यवाद भेंट करता हूं। आशा है दूसरे भी उदार महानुभाव इसका अनुकरण करेंगे और वीर सेवा-मन्दिर, उसकी ग्रन्थ-माला तथा 'अनेकान्त' पत्रको इस प्रकारके सहयोगों-द्वारा अपनाकर गौरवान्वित बनायेंगे।

सरसावा जि० सहारनपुर
ता० २६-७-१९३९

निवेदक—
जुगलकिशोर मुख्तार
अधिष्ठाता 'वीर-सेवा-मन्दिर'

अनुवादकीय निवेदन

आचार्य पूज्यपादका 'समाधितंत्र' ग्रन्थ अध्यात्म-रससे ओत-प्रोत है और आत्मस्वरूपकी प्राप्तिके इच्छुकोंके लिये बहुत ही उपयोगी है। इसमें आत्मस्वरूपका और उसकी प्राप्तिका बड़ा ही सुन्दर सरस वर्णन है। यह ग्रन्थ मुझे बहुत प्रिय है और इसी लिये मैं इसकी हिन्दी टीका लिखनेकी बहुत दिनों तक इच्छा करता रहा, पर अनवकाश आदिके कारण उसे कार्यमें परिणत न कर सका। कुछ समय बाद त्यागमूर्ति पूज्य बाबा भागीरथजी वर्णीने मुझे इस ग्रन्थकी टीका लिखनेकी प्रेरणा की; क्योंकि यह ग्रन्थ उन्हें बहुत अधिक प्रिय है, वे इसका निरन्तर ही पाठ किया करते हैं। उनकी इस प्रेरणा और अनुरोधने मेरे हृदयमें नई स्फूर्ति पैदा करदी। फलतः मैंने इस शुभ कार्यको सहर्ष अपने हाथमें ले लिया और कुछ समयके भीतर ही टीका बनाकर समाप्त करदी, जिसकी सूचना समाप्तिके अनंतर ही पूज्य बाबाजी-को दे दी गई।

कुछ समय बाद उक्त बाबाजीकी बीमारीके कारण न्यायाचार्य पूज्य पं० गणेशप्रसादजी वर्णीका खतौली पधारना हुआ। मुझे भी आनेकी आज्ञा मिली और मैं सेवामें उपस्थित होगया। उसी समय यह स्थिर हुआ कि 'समाधितंत्र'की हिन्दी टीकाको संस्कृत टीकाके साथ प्रकाशित किया जाय और पूज्यपादाचार्यका ऐतिहासिक परिचय भी प्रस्तावना दिके रूपमें लिखाकर साथमें लगाया जाय। प्रकाशन-खर्चके लिये कुछ सज्जनोंके वचन भी प्राप्त हो गये, जिसके लिये वे सब धन्यवादके पात्र हैं।

आचार्य पूज्यपादके ऐतिहासिक परिचयके अर्थ इस ग्रन्थकी महत्वपूर्ण प्रस्तावना लिखनेके लिये मैंने जैनसमाजके सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार सरसावासे प्रार्थना की। सौभाग्यकी बात है कि उन्होंने मेरी इस प्रार्थनाको स्वीकार कर लिया। तदनन्तर मेरी नियुक्ति वीर-सेवा-मन्दिरमें होजाने पर मुख्तार साहबने टीकाके संशोधन, सम्पादन और प्रकाशनादिके भारको अपने ऊपर लेकर और वीर सेवा मन्दिर-ग्रन्थमालामें इस ग्रन्थको प्रथम स्थान देकर मुझे बड़ा ही अनुगृहीत किया है। इस महती कृपाके लिये मैं उनका बहुत ही आभारी और चिरकृतज्ञ हूँ।

इस ग्रन्थके अनुवादादिकार्यमें न्यायाचार्य पूज्य पं० गणेशप्रसाद वर्णी, त्याग-मूर्ति बाबा भागीरथजी वर्णी और सिद्धान्तशास्त्री पं० दयाचन्दजी न्यायतीर्थ आदि गुरुजनोंने अपने सत्परामर्श आदि द्वारा जो सहायता प्रदान की है उसके लिये मैं उनका भी बहुत आभारी हूं। इनके सिवाय, अन्य जिन सज्जनोंने मुझे इस कार्यमें किसी प्रकारका भी सहयोग प्रदान किया है उन सबका मैं हृदयसे आभार मानता हूँ।

किसी ग्रन्थका अनुवाद करने अथवा टीका लिखने का मेरा यह पहला ही प्रयास है। इसमें त्रुटियोंका रहजाना संभव है। अतः विद्वज्जनोंसे मेरा नम्र निवेदन

है कि वे इसके लिये मुझे क्षमा करते हुए उन त्रुटियोंसे कृपया सूचित करें, जिससे अगले संस्करणमें उन्हें निकाला जा सके।

वीर-सेवा-मन्दिर, सरसावा
ता० २४-७-१९३९

निवेदक—
परमानन्द जैन
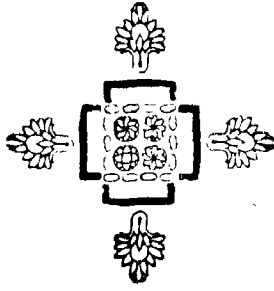
प्रस्तावना

श्रीपूज्यपाद और उनकी रचनाएँ

जैनसमाजमें 'पूज्यपाद' नामके एक सुप्रसिद्ध आचार्य विक्रमकी छठी (ईसाकी पाँचवीं) शताब्दीमें हो गये हैं, जिनका पहला अथवा दीक्षानाम 'देवनन्दी' था और जो बादको 'जिनेन्द्रबुद्धि' नामसे भी लोकमें प्रसिद्धिको प्राप्त हुए हैं। आपके इन नामोंका परिचय अनेक शिलालेखों तथा ग्रन्थों आदि परसे भले प्रकार उपलब्ध होता है। नीचेके कुछ अवतरण इसके लिये पर्याप्त हैं:—

> यो देवनन्दिप्रथमाभिधानो बुद्ध्या महात्मा स जिनेन्द्रबुद्धिः।
> श्रीपूज्यपादोऽजनि देवताभिर्यत्पूजितं पादयुगं यदीयम्॥
>
> —श्रवणबेल्गोल शि० नं० ४० (६४)

> प्रागभ्यधायि गुरुणा किल देवनन्दी
> बुद्ध्या पुनर्विपुलया स जिनेन्द्रबुद्धिः।
> श्रीपूज्यपाद इति चैष बुधैः प्रचख्ये,
> यत्पूजितः पदयुगे वनदेवताभिः॥
>
> —श्र० शि० नं० १०५ (२५४)

श्रवणबेल्गोलके इन दोनों शिला-वाक्यों परसे, जिनका लेखनकाल क्रमशः शक सं० १०८५ व १३२० है यह साफ जाना जाता है कि आचार्यमहोदयका प्राथमिक नाम 'देवनन्दी' था, जिसे उनके गुरुने रक्खा था और इसलिये वह उनका दीक्षानाम है, 'जिनेन्द्रबुद्धि' नाम बुद्धिकी प्रकर्षता एवं विपुलताके कारण उन्हें बादको प्राप्त हुआ था; और जबसे उनके चरण-युगल देवताओंसे पूजे गये थे तबसे वे बुधजनों द्वारा 'पूज्यपाद' नामसे विभूषित हुए हैं।

> श्रीपूज्यपादोद्धृतधर्मराज्यस्ततः सुराधीश्वरपूज्यपादः।
> यदीयवैदुष्यगुणानिदानीं वदन्ति शास्त्राणि तदुद्धृतानि॥
> धृतविश्वबुद्धिरयमत्र योगिभिः कृतकृत्यभावमनुबिभ्रदुच्चकैः।
> जिनवद्बभूव यदनङ्गचापहृत्स जिनेन्द्रबुद्धिरिति साधुवर्णितः॥
>
> —श्र० शि० नं० १०८ (२५८)

शक संवत् १३५५में उत्कीर्ण हुए इन शिलावाक्योंसे स्पष्ट है कि श्रीपूज्यपादने धर्मराज्यका उद्धार किया था—लोकमें धर्मकी पुनः प्रतिष्ठा की थी—इसीसे आप देवताओंके अधिपति-द्वारा पूजे गये और 'पूज्यपाद' कहलाये। आपके विद्याविशिष्ट

गुणोंको आज भी आपके द्वारा उद्धार पाये हुए—रचे हुए—शास्त्र बतला रहे हैं—उनका खुला गान कर रहे हैं। आप जिनेन्द्रकी तरह विश्वबुद्धिके धारक—समस्त शास्त्र-विषयोंके पारंगत—थे और कामदेवको जीतनेवाले थे, इसीसे आपमें ऊँचे दर्जेके कृतकृत्य-भावको धारण करनेवाले योगियोंने आपको ठीक ही 'जिनेन्द्रबुद्धि' कहा है।' इसी शिलालेखमें पूज्यपाद-विषयक एक वाक्य और भी पाया जाता है, जो इस प्रकार है :—

श्रीपूज्यपादमुनिरप्रतिमौषधर्द्धिर्जीयाद्विदेहजिनदर्शनपूतगात्रः ।
यत्पादधौतजलसंस्पर्शप्रभावात् कालायसं किल तदा कनकीचकार ॥

इसमें पूज्यपाद मुनिका जयघोष करते हुए उन्हें अद्वितीय औषध-ऋद्धिके धारक बतलाया है। साथ ही, यह भी प्रकट किया है कि विदेहक्षेत्र-स्थित जिनेन्द्र-भगवानके दर्शनसे उनका गात्र पवित्र होगया था और उनके चरण-धोए जलके स्पर्शसे एक समय लोहा भी सोना बन गया था।

इस तरह आपके इन पवित्र नामोंके साथ कितना ही इतिहास लगा हुआ है और वह सब आपकी महती कीर्ति, अपार विद्वत्ता एवं सातिशय प्रतिष्ठाका द्योतक है। इसमें सन्देह नहीं कि श्रीपूज्यपाद स्वामी एक बहुत ही प्रतिभाशाली आचार्य, माननीय विद्वान, युगप्रधान और अच्छे योगीन्द्र हुए हैं। आपके उपलब्ध ग्रन्थ निश्चय ही आपकी असाधारण योग्यताके जीते-जागते प्रमाण हैं। भट्टाकलंकदेव और श्रीविद्यानन्द-जैसे बड़े बड़े प्रतिष्ठित आचार्योंने अपने राजवार्तिकादि ग्रन्थोंमें आपके वाक्योंका—सर्वार्थसिद्धि आदिके पदोंका—खुला अनुसरण करते हुए बड़ी श्रद्धाके साथ उन्हें स्थान ही नहीं दिया बल्कि अपने ग्रन्थोंका अंग तक बनाया है।

जैनेन्द्र-व्याकरण

शब्द-शास्त्र में आप बहुत ही निष्णात थे। आपका 'जैनेन्द्र' व्याकरण लोकमें अच्छी ख्याति एवं प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका है—निपुण वैयाकरणोंकी दृष्टिमें सूत्रोंके लाघवादिके कारण उसका बड़ा ही महत्व है और इसीसे भारतके आठ प्रमुख शाब्दिकोंमें आपकी भी गणना है*। कितने ही विद्वानोंने किसी आचार्यादिकी प्रशंसामें उसके व्याकरण-शास्त्रकी निपुणताको आपकी उपमा दी है; जैसा कि श्रवणबेल्गोलके निम्न दो शिलावाक्योंसे प्रकट है :—

"सर्वव्याकरणे विपश्चिदधिपः श्रीपूज्यपादः स्वयम्।"

—शि० नं० ४७, ५०

"जैनेन्द्रे पूज्यपादः।"

—शि० नं० ५५

पहला वाक्य मेघचन्द्र त्रैविद्यदेवकी और दूसरा जिनचन्द्राचार्यकी प्रशंसामें कहा गया है। पहलेमें, मेघचन्द्रको व्याकरण-विषयमें स्वयं 'पूज्यपाद' बतलाते हुए, पूज्यपादको 'अखिल-व्याकरण-पण्डितशिरोमणि' सूचित किया है और दूसरेमें

---

*इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नपिशलीशाकटायनाः ।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टौ च शाब्दिकाः ॥ —धातुपाठः ।

जिनचन्द्रके 'जैनेन्द्र' व्याकरण-विषयक ज्ञानको स्वयं पूज्यपादका ज्ञान बतलाया है, और इस तरह 'जैनेन्द्र' व्याकरणके अभ्यासमें उसकी दक्षताको घोषित किया है।

पूज्यपादके इस व्याकरणशास्त्रकी प्रशंसामें अथवा इस व्याकरणको लेकर पूज्यपादकी प्रशंसामें विद्वानोंके ढेरके ढेर वाक्य पाये जाते हैं। नमूनेके तौर पर यहाँ उनमेंसे दो-चार वाक्य उद्धृत किये जाते हैं:—

कवीनां तीर्थकृद्देवः किंतरां तत्र वर्ण्यते।
विदुषां वाङ्मलध्वंसि तीर्थं यस्य वचोमयम्॥

—आदिपुराणे, जिनसेनः।

अचिन्त्यमहिमा देवः सोऽभिवंद्यो हितैषिणा।
शब्दाश्च येन सिद्ध्यन्ति साधुत्वं प्रतिलम्भिताः।

—पार्श्वनाथचरिते, वादिराजः।

पूज्यपादः सदा पूज्यपादः पूज्यैः पुनातु माम्।
व्याकरणार्णवो येन तीर्णो विस्तीर्णसद्गुणः॥

—पाण्डवपुराणे, शुभचन्द्रः।

शब्दाब्धीन्दुं पूज्यपादं च वन्दे।

—नियमसारटीकायां, पद्मप्रभः।

प्रमाणमकलंकस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्।
द्विसंधानकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम्॥

—नाममालायां, धनञ्जयः।

नमः श्रीपूज्यपादाय लक्षणं यदुपक्रमम्।
यदेवात्र तदन्यत्र यन्नात्रास्ति न तत्क्वचित्॥

—जैनेन्द्रप्रक्रियायां, गुणनन्दी।

अपाकुर्वन्ति यद्वाचः कायवाक्चित्तसंभवम्।
कलंकमंगिनां सोऽयं देवनन्दी नमस्यते॥

—ज्ञानार्णवे, शुभचन्द्रः।

इनमेंसे प्रथमके दो वाक्योंमें पूज्यपादका 'देव' नामसे उल्लेख किया गया है, जो कि आपके 'देवनन्दी' नामका संक्षिप्त रूप है। पहले वाक्यमें श्रीजिनसेनाचार्य लिखते हैं कि 'जिनका वाङ्मय—शब्दशास्त्ररूपी व्याकरणतीर्थ—विद्वज्जनोंके वचन-मलको नष्ट करनेवाला है वे देवनंदी कवियोंके तीर्थङ्कर हैं, उनके विषयमें और अधिक क्या कहा जाय? दूसरे वाक्यमें वादिराजसूरिने बतलाया है कि 'जिनके द्वारा—जिनके व्याकरणशास्त्रको लेकर—शब्द भले प्रकार सिद्ध होते हैं वे देवनंदी अचिंत्य महिमायुक्त देव हैं और अपना हित चाहनेवालोंके द्वारा सदा वंदना किये जाने के योग्य हैं। तीसरे वाक्यमें, शुभचन्द्र भट्टारकने, पूज्यपादको पूज्योंके द्वारा भी पूज्यपाद तथा विस्तृत सद्गुणोंके धारक प्रकट करते हुए उन्हें व्याकरण-समुद्रको तिरजानेवाले लिखा है और साथ ही यह प्रार्थना की है कि वे मुझे पवित्र करें।

चौथेमें, मलधारी पद्मप्रभदेवने पूज्यपादको 'शब्दसागरका चंद्रमा' बतलाते हुए उनकी बंदना की है। पांचवेंमें, पूज्यपादके लक्षण (व्याकरण) शास्त्रको अपूर्व रत्न बतलाया गया है। छठे में, पूज्यपादको नमस्कार करते हुए उनके लक्षणशास्त्र (जैनेन्द्र) के विषयमें यह घोषणा कीगई है कि जो बात इस व्याकरणमें है वह तो दूसरे व्याकरणोंमें पाई जाती है परन्तु जो इसमें नहीं है वह अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं होती, और इस तरह आपके 'जैनेन्द्र' व्याकरणको सर्वाङ्गपूर्ण बतलाया गया है। अब रहा सातवाँ वाक्य, उसमें श्रीशुभचन्द्राचार्यने लिखा है कि 'जिनके वचन प्राणियोंके काय, वाक्य और मनः सम्बन्धी दोषोंको दूर कर देते हैं उन देवनन्दीको नमस्कार है।' इसमें पूज्यपादके अनेक ग्रन्थोंका उल्लेख संनिहित है—वाग्दोषोंको दूर करनेवाला तो आपका वही प्रसिद्ध 'जैनेन्द्र' व्याकरण है, जिसे जिनसेनने भी 'विदुषां वाङ्मलध्वंसि' लिखा है; और जिसके कई संस्करण अपनी जुदा-जुदा वृत्तियों सहित प्रकाशित हो चुके हैं। चित्तदोषोंको दूर करनेवाला आपका मुख्य ग्रन्थ "समाधितंत्र" है, जिसे 'समाधिशतक' भी कहते हैं, और जिसका कुछ विशेष परिचय इस प्रस्तावनामें आगे दिया जायगा। रहा कायदोषको दूर करनेवाला ग्रन्थ, वह कोई वैद्यकशास्त्र होना चाहिये, जो इस समय अनुपलब्ध है ‡।

वैद्यक शास्त्र

विक्रमकी १५ वीं शताब्दीके विद्वान कवि मंगराजने कनड़ी भाषामें 'खगेन्द्र-मणिदर्पण' नामका एक चिकित्साग्रन्थ लिखा है और उसमें पूज्यपादके वैद्यकग्रन्थका भी आधाररूपसे उल्लेख किया है, जिससे मंगराजके समय तक उस वैद्यकग्रन्थके अस्तित्वका पता चलता है ;परन्तु सुहृद्वर पं० नाथूराम जी प्रेमी उसे किसी दूसरे ही पूज्यपादका ग्रन्थ बतलाते हैं और इस नतीजे तक पहुँचे हैं कि 'जैनेन्द्र' के कर्ता पूज्यपादने वैद्यकका कोई शास्त्र बनाया ही नहीं—यों ही उनके नाम मँढा जाता है; जैसा कि उनके "जैनेन्द्रव्याकरण और आचार्य 'देवनन्दी' नामक लेखके निम्न वाक्यसे प्रकट होता है :—

"इस खगेन्द्रमणिदर्पण में वह (मंगराज) अपने आपको पूज्यपादका शिष्य बतलाता है और यह भी लिखता है कि यह ग्रन्थ पूज्यपादके वैद्यक-ग्रन्थसे संगृहीत है। इससे मालूम होता है कि पूज्यपाद नामके एक विद्वान् विक्रमकी तेरहवीं (१४वीं?) शताब्दीमें भी हो गये हैं और लोग भ्रमवश उन्हींके वैद्यकग्रंथको जैनेन्द्रके कर्ताका ही बनाया हुआ समझकर उल्लेख कर दिया करते हैं।" ❀

---

‡ पूज्यपादकी कृतिरूपसे 'वैद्यसार' नामक जो ग्रंथ 'जैन-सिद्धान्तभास्कर' (त्रैमासिक) में प्रकाशित होरहा है वह इन श्री पूज्यपादाचार्यकी रचना नहीं है। हो सकता है कि यह मंगलाचरणादिविहीन ग्रन्थ पूज्यपादके किसी ग्रंथ परसे ही कुछ सार लेकर लिखा गया हो; परन्तु स्वयं पूज्यपादकृत नहीं है। और यह बात ग्रंथके साहित्य, रचनाशैली और जगह-जगह नुसखोंके अन्तमें 'पूज्यपादेन भाषितः-निर्मितः' जैसे शब्दोंके प्रयोगसे भी जानी जाती है।

❀ देखो, 'जैनसाहित्यसंशोधक' भाग १, अङ्क २, पृष्ठ ८३ और 'जैनहितैषी' भाग १५, अङ्क १-२, पृष्ठ ५७।

द्वारा बहुत कुछ उल्लेख किया गया है और एक स्थान पर तो अपने ग्रंथाधारको व्यक्त करते हुए "शालाक्यं पूज्यपादप्रकटितमधिकं" इस वाक्यके द्वारा पूज्यपादके एक चिकित्साग्रन्थका स्पष्ट नाम भी दिया है और वह है 'शालाक्य' ग्रन्थ, जो कि कर्ण, नेत्र, नासिका, मुख और शिरोरोगकी चिकित्सासे सम्बन्ध रखता है। अतः प्रेमीजीने जो कल्पना की है वह निर्दोष मालूम नहीं होती।

यहां पर मैं इतना और भी प्रकट कर देना चाहता हूं कि चित्रकवि सोमने एक 'कल्याणकारक' वैद्यग्रन्थ कन्नड़ी भाषामें लिखा है, जोकि मद्य-मांस-मधुके व्यवहारसे वर्जित है और जिसमें अनेक स्थानोंपर गद्य-पद्यरूपसे संस्कृत वाक्य भी उद्धृत किये गये हैं। यह ग्रन्थ पूज्यपाद मुनिके 'कल्याणकारकबाहडसिद्धान्तक' नामक ग्रन्थके आधारपर रचा गया है; जैसाकि उसके "पूज्यपादमुनिगलुं पेल्द कल्याणकारकवाहडसिद्धान्तकदिं" विशेषणसे प्रकट है। इससे पूज्यपादके एक दूसरे वैद्यकग्रन्थका नाम उपलब्ध होता है। मालूम नहीं चित्रकवि सोम कब हुए हैं। उनका यह ग्रन्थ आराके जैनसिद्धान्त-भवनमें मौजूद है।

इसके सिवाय,शिमोगा जिलान्तर्गत 'नगर' ताल्लुकके ४६ वें शिलालेखमें, जो कि पद्मावती-मंदिरके एक पत्थरपर खुदा हुआ है, पूज्यपाद-विषयक जो हकीकत दी है वह कुछ कम महत्वकी नहीं है और इसलिये उसे भी यहां पर उद्धृत कर देना उचित जान पड़ता है। उसमें जैनेन्द्रकर्ता पूज्यपाद द्वारा 'वैद्यशास्त्र' के रचे जानेका बहुत ही स्पष्ट उल्लेख मिलता है। यथा:—

> "न्यासं जैनेन्द्रसंज्ञं सकलबुधनुतं पाणिनीयस्य भूयो—
> न्यासं शब्दावतारं मनुजततिहितं वैद्यशास्त्रं च कृत्वा।
> यस्तत्त्वार्थस्य टीकां व्यरचयदिह तां भात्यसौ पूज्यपाद—
> स्वामी भूपालवंद्यः स्वपरहितवचः पूर्णदृग्बोधवृत्तः॥"

शब्दावतार और सर्वार्थसिद्धि

'नगर' ताल्लुकके उक्त शिलावाक्यमें पूज्यपादके चार ग्रन्थोंका क्रमनिर्देशपूर्वक उल्लेख किया गया है, जिनमेंसे पहला ग्रन्थ है 'जैनेन्द्र' नामक न्यास (व्याकरण), जिसे संपूर्ण बुधजनोंमे स्तुत लिखा है; दूसरा पाणिनीय व्याकरणके ऊपर लिखा हुआ 'शब्दावतार' नामका न्यास है; तीसरा मानव-समाजके लिये हितरूप 'वैद्यशास्त्र' और चौथा है तत्वार्थसूत्रकी टीका 'सर्वार्थसिद्धि'। यह टीका पहले तीन ग्रन्थोंके निर्माणके बाद लिखी गई है ऐसी स्पष्ट सूचना भी इस शिलालेखमें की गई है। साथ ही, पूज्यपादस्वामीके विषयमें लिखा है कि वे राजासे* वंदनीय थे, स्वपरहितकारी वचनों (ग्रन्थों) के प्रणेता थे और दर्शन-ज्ञान-चारित्रसे परिपूर्ण थे।

इस अवतरणसे पूज्यपादके 'शब्दावतार' नामक एक और अनुपलब्ध ग्रंथका पता चलता है, जो पाणिनीय-व्याकरणका न्यास है और 'जैनेन्द्र' व्याकरणके बाद लिखा गया है। विक्रमकी १२ वीं शताब्दीके विद्वान् कवि वृत्तविलासने भी अपने 'धर्मपरीक्षे' नामक कन्नडी ग्रन्थमें, जो कि अमितगतिकी 'धर्मपरीक्षा' को लेकर

---

* यह गंगराजा 'दुर्विनीत' जान पड़ता है, जिसके पूज्यपाद शिक्षागुरु थे।

लिखा गया है, पाणिनीय-व्याकरणपर पूज्यपादके एक टीकाग्रन्थका उल्लेख किया है, जो उक्त 'शब्दावतार' नामक न्यास ही जान पड़ता है। साथ ही, पूज्यपादके द्वारा भूरक्षणार्थ (लोकोपकारके लिये) यंत्र-मंत्रादि-विषयक शास्त्रोंके रचे जानेको भी सूचित किया है—जिसके 'आदि' शब्दसे वैद्यशास्त्रका भी सहज ही में ग्रहण हो सकता है—और पूज्यपादको 'विश्वविद्याभरण' जैसे महत्वपूर्ण विशेषणोंके साथ स्मरण किया है। यथा—

"भरदिं जैनेन्द्रं भासुरं एनल् ओरेदं पाणिणीयक्के टीकुं ब-
रेदं तत्त्वार्थमं टिप्पणदिम् आरयिद् यंत्रमंत्रादिशास्त्रोक्तकरं।
भूरक्षणार्थं विरचिसि जसमं तालिदर्द विश्वविद्याभरणं
भव्यालियाराधितपदकमलं पूज्यपादं व्रतीन्द्रम् ॥"

पाणिनीयकी काशिका वृत्तिपर 'जिनेन्द्रबुद्धि' का एक न्यास है। पं० नाथूरामजी प्रेमीने अपने उक्त लेखमें प्रकट किया है कि 'इस न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धिके नामके साथ 'बोधिसत्वदेशीयाचार्य' नामकी बौद्ध-पदवी लगी हुई है, इससे यह ग्रन्थ बौद्धभिक्षुका बनाया हुआ है। आश्चर्य नहीं जो वृत्तविलास कविको पूज्यपादके 'जिनेन्द्रबुद्धि' इस नाम-साम्यके कारण भ्रम हुआ हो और इसीसे उसने उसे पूज्यपादका समझकर उल्लेख कर दिया हो।' परन्तु ऊपरके शिलालेखमें न्यासका स्पष्ट नाम 'शब्दावतार' दिया है और उसे काशिकावृत्तिका नहीं बल्कि पाणिनीयका न्यास बतलाया है, ऐसी हालतमें जब तक यह सिद्ध न हो कि काशिकापर लिखे हुए न्यासका नाम 'शब्दावतार' है और उसके कर्ताके नाम के साथ यदि उक्त बौद्ध-विशेषण लगा हुआ है तो वह किसीकी बादकी कृति नहीं है‡ तब तक धर्मपरीक्षाके कर्ता वृत्तविलासको भ्रमका होना नहीं कहा जा सकता; क्योंकि पूज्यपादस्वामी गंगराजा दुर्विनीतके शिक्षागुरु (Preceptor) थे, जिसका राज्यकाल ई० सन ४८२ से ५२२ तक पाया जाता है और उन्हें हेब्बुर आदिके अनेक शिलालेखों (ताम्रपत्रादिकों) में 'शब्दावतार' के कर्तारूपसे दुर्विनीत राजाका गुरु उल्लेखित किया है †।

इष्टोपदेश आदि दूसरे ग्रन्थ

इन सब ग्रन्थोंके अतिरिक्त पूज्यपादने और कितने तथा किन किन ग्रंथोंकी रचना की है इसका अनुमान लगाना कठिन है—'इष्टोपदेश' और 'सिद्धभक्ति'* जैसे

‡ देहलीके नये मन्दिरमें 'काशिका-न्यास' की जो हस्तलिखित प्रति है उसमें उसके कर्ता 'जिनेन्द्रबुद्धि' के नामके साथ 'बोधिसत्वदेशीयाचार्य' नामकी कोई उपाधि लगी हुई नहीं है—ग्रन्थकी संधियोंमें "इत्याचार्यस्थविरजिनेन्द्रबुद्ध्युपरचितायां न्यास(तथा 'काशिकाविवरणन्यास')-पंचिकायां" इत्यादि रूपसे उल्लेख पाया जाता है।

† देखो 'कुर्गइन्स्क्रिपशन्स' भू० ३; 'मैसूर एण्ड कुर्ग' जिल्द १, पृ० ३७३; 'कर्णाटकभाषाभूषणम्' भू० पृ० १२; 'हिस्टरी आफ कनडीज़ लिटरेचर' पृ० २५ और 'कर्णाटककविचरिते'।

* सिद्धभक्तिके साथ श्रुतभक्ति, चरित्रभक्ति, योगिभक्ति, आचार्यभक्ति, निर्वाणभक्ति तथा नन्दीश्वरभक्ति नामके संस्कृत प्रकरण भी पूज्यपादके प्रसिद्ध हैं।

प्रकरण-ग्रंथ तो शिलालेखों आदिमें स्थान पाये विना ही अपने अस्तित्व एवं महत्व-को स्वतः ख्यापित कर रहे हैं। 'इष्टोपदेश' ५१ पद्योंका एक छोटासा यथानाम तथा-गुणसे युक्त सुन्दर आध्यात्मिक ग्रंथ है और वह पं० आशाधरजीकी संस्कृतटीका-सहित माणिकचन्द्र-ग्रंथमालामें प्रकाशित भी हो चुका है। 'सिद्धभक्ति'* ९ पद्योंका एक बड़ा ही महत्वपूर्ण 'गम्भीरार्थक' प्रकरण है इसमें सूत्ररूपसे सिद्धिका, सिद्धिके मार्गका, सिद्धिको प्राप्त होनेवाले आत्माका, आत्मविषयक जैनसिद्धांतका' सिद्धिके क्रम-का, सिद्धिको प्राप्त हुए सिद्धोंका और सिद्धोंके सुखादिका अच्छा स्वरूप बतलाया गया है। 'सिद्धिसोपान' ‡ में यह अपने विकासके साथ प्रकाशित हुआ है।

हां लुप्तप्राय ग्रंथोंमें छन्द और काव्यशास्त्र-विषयक आपके दो ग्रंथोंका पता और भी श्रवणबेलगोलके शिलालेख नं० ४० के निम्न वाक्यसे चलता है:—

> "जैनेन्द्रं निजशब्दभागमतुलं सर्वार्थसिद्धिः परा
> सिद्धान्ते निपुणत्वमुद्घकविनां जैनाभिषेकः स्वकः।
> छन्दः सूक्ष्मधियं समाधिशतकं स्वास्थ्यं यदायं विदा-
> माख्यातीह स पूज्यपादमुनिपः पूज्यो मुनीनां गणैः ॥४॥

इस वाक्य में, ऊँचे दर्जेकी कुछ रचनाओंका उल्लेख करते हुए, बड़े ही अच्छे ढंगसे यह प्रतिपादित किया है कि 'जिनका जैनेन्द्र' शब्दशास्त्रमें अपने अतुलित भागको, 'सर्वार्थसिद्धि' (तत्त्वार्थटीका) सिद्धांतमें परमनिपुणताको, 'जैनाभिषेक' ऊँचे दर्जेकी कविताको, 'छन्दःशास्त्र' बुद्धिकी सूक्ष्मता (रचनाचातुर्य) को और 'समाधिशतक' जिनकी स्वात्मस्थिति (स्थितप्रज्ञता) को संसारमें विद्वानों पर प्रकट करता है वे 'पूज्यपाद' मुनीन्द्र मुनियोंके गणोंसे पूजनीय हैं।

'एकान्तखण्डन' ग्रंथमें लक्ष्मीधरने, श्री पूज्यपादस्वामीका 'षड्दर्शनरहस्य-संवेदन-सम्पादित-निस्सीमपाण्डित्य-मण्डिताः' विशेषण के साथ स्मरण करते हुए, उनके विषय में एक खास प्रसिद्धिका उल्लेख किया है—अर्थात् यह प्रकट किया है कि उन्होंने नित्यादि सर्व एकान्त पक्षकी सिद्धिमें प्रयुक्त हुए साधनोंको दूषित करनेके लिये उन्हें 'विरुद्ध' हेत्वाभास बतलाया है; जब कि सिद्धसेनाचार्यने 'असिद्ध' हेत्वाभास प्रतिपादन करनेमें ही संतोष धारण किया है और स्वामी समन्तभद्रने 'असिद्ध-विरुद्ध' दोनों ही रूपसे उन्हें दूषित किया है। साथ ही, इसकी पुष्टिमें निम्न वाक्य 'तदुक्तं' रूपसे दिया है:—

> असिद्धं सिद्धसेनस्य विरुद्धं देवनन्दिनः।
> द्वयं समन्तभद्रस्य सर्वथैकान्तसाधनमिति ॥

---

* क्रियाकलापके टीकाकार प्रभाचन्द्रने अपनी सिद्धभक्ति-टीकामें "संस्कृताः सर्वा-भक्तयः पूज्यपादस्वामिकृताः प्राकृतास्तु कुन्दकुन्दाचार्यकृताः" इस वाक्यके द्वारा उन्हें पूज्यपाद-कृत बतलाया है। ये सब भक्तिपाठ 'दशभक्ति' आदिमें मुद्रित होकर प्रकाशित होचुके हैं।

‡ प्रस्तावना-लेखक-द्वारा लिखी हुई यह ४८ पृष्ठकी 'सिद्धिसोपान' पुस्तक वीरसेवामन्दिर, सरसावा से बिना मूल्य मिलती है।

एकांत-साधनको दूषित करनेमें तीन विद्वानोंकी प्रसिद्धिका यह श्लोक सिद्धि-विनिश्चय-टीका और न्याय-विनिश्चय-विवरणमें निम्न प्रकारसे पाया जाता है—

असिद्धः सिद्धसेनस्य विरुद्धो देवनन्दिनः ।
द्वेधा समंतभद्रस्य हेतुरेकांतसाधने ॥

न्यायविनिश्चय-विवरणमें वादिराजने इसे 'तदुक्तं' पदके साथ दिया है और सिद्धिविनिश्चय-टीकामें अनन्तवीर्य आचार्यने इस श्लोकको एकबार पांचवें प्रस्तावमें "यद्वक्ष्यत्यसिद्धः सिद्धसेनस्य" इत्यादि रूपमें उद्धृत किया है, फिर छठे प्रस्तावमें इसे पुनः पूरा दिया है और वहां पर इसके पदोंकी व्याख्या भी की है। इससे यह श्लोक अकलंकदेवके सिद्धिविनिश्चय ग्रंथके 'हेतुलक्षणसिद्धि' नामक छठे प्रस्तावका है। जब अकलंकदेव जैसे प्राचीन—विक्रमी सातवीं शताब्दी के—महान् आचार्यों तकने पूज्यपादकी ऐसी प्रसिद्धिका उल्लेख किया है तब यह बिल्कुल स्पष्ट है कि पूज्यपाद एक बहुत बड़े तार्किक विद्वान् ही नहीं थे बल्कि उन्होंने स्वतंत्ररूपसे किसी न्याय-शास्त्रकी रचना भी की है, जिसमें नित्यादि-एकान्तवादोंको दूषित ठहराया गया है और जो इस समय अनुपलब्ध है अथवा जिसे हम अपने प्रमाद एवं अनोखी श्रुतभक्तिके वश खो चुके हैं !!

सारसंग्रह

श्री 'धवल' सिद्धान्तके एक उल्लेखसे यह भी पता चलता है कि पूज्यपादने 'सारसंग्रह' नामका भी कोई ग्रंथ रचा है, जो नय-प्रमाण-जैसे कथनोंको भी लिये हुए है। आश्चर्य नहीं जो उनके इसी ग्रंथमें न्याय-शास्त्रका विशद विवेचन हो और उसके द्वारा नित्यादि-एकान्तवादियोंको दूषित ठहराया गया हो। नयके लक्षणको लिये हुए वह उल्लेख इस प्रकार है:—

"तथा सारसंग्रहेऽप्युक्तं पूज्यपादैरनन्तपर्यात्मकस्य वस्तुनोऽन्यतमपर्यायाधिगमे कर्त्तव्ये जात्यहेत्वपेक्षो निरवद्यप्रयोगो नय इति।"

—'वेदना' खण्ड ४

ऊपरके सब अवतरणों एवं उपलब्ध ग्रंथोंपरसे पूज्यपादस्वामीकी चतुर्मुखी प्रतिभाका स्पष्ट पता चलता है और इस विषयमें कोई संदेह नहीं रहता कि आपने उस समयके प्रायः सभी महत्वके विषयोंमें ग्रन्थोंकी रचना की है। आप असाधारण विद्वत्ताके धनी थे, सेवा-परायणोंमें अग्रगण्य थे, महान् दार्शनिक थे, अद्वितीय वैयाकरण थे, अपूर्व वैद्य थे, धुरंधर कवि थे, बहुत बड़े तपस्वी थे, सातिशय योगी थे और पूज्य महात्मा थे। इसीसे कर्णाटकके प्रायः सभी प्राचीन कवियोंने—ईसाकी ८ वीं, ९ वीं, १० वीं शताब्दियोंके विद्वानोंने—अपने-अपनेग्रन्थोंमें बड़ी श्रद्धा-भक्तिके साथ आपका स्मरण किया है और आपकी मुक्तकंठसे खूब प्रशंसा की है।

जीवन-घटनाएँ

आपके जीवनकी अनेक घटनाएं हैं—जैसे कि १ विदेहगमन, २ घोर तपश्चर्यादिके

कारण आंखोंकी ज्योतिका नष्ट हो जाना तथा 'शान्त्यष्टक'*के एकनिष्ठा एवं एकाग्रता-पूर्वक पाठसे उसकी पुनः सम्प्राप्ति, ३ देवताओंसे चरणोंका पूजा जाना ४ औषधि-ऋद्धिकी उपलब्धि ५ और पादस्पृष्ट जलके प्रभावसे लोहेका सुवर्णमें परिणत हो जाना (अथवा उस लोहेसे सुवर्णका विशेष लाभ प्राप्त होना)। इनपर विशेष विचार करने तथा ऐतिहासिक प्रकाश डालनेका इस समय अवसर नहीं है। ये सब विशेष ऊहापोहके लिये यथेष्ट समय और सामग्रीकी अपेक्षा रखती हैं। परन्तु इनमें असंभवता कुछ भी नहीं है—महायोगियोंके लिये ये सब कुछ शक्य हैं। जबतक कोई स्पष्ट बाधक प्रमाण उपस्थित न हो तबतक—"सर्वत्र बाधकाभावाद्वस्तुव्यवस्थितिः" की नीतिके अनुसार इन्हें माना जासकता है।

पितृकुल और गुरुकुल

पितृकुल और गुरुकुलके विचारोंको भी इस समय छोड़ा जाता है। हाँ, इतना जरूर कहदेना होगा कि आप मूल-संघान्तर्गत नन्दिसंघके प्रधान आचार्य थे, स्वामी समन्तभद्रके बाद हुए हैं—श्रवणवेल्गोलके शिलालेखों (नं० ४०, १०८) में समन्तभद्रके उल्लेखानन्तर "ततः" पद देकर आपका उल्लेख किया गया है और स्वयं पूज्यपादने भी अपने 'जैनेन्द्र' में "चतुष्टयं समन्तभद्रस्य" इस सूत्र (५-४-१६८) के द्वारा समन्तभद्रके मतका उल्लेख किया है। इससे आपका समन्तभद्रके बाद होना सुनिश्चित है। आपके एक शिष्य वज्रनन्दीने विक्रम सं० ५२६ में द्राविड़संघकी स्थापना की थी, जिसका उल्लेख देवसेनके 'दर्शनसार' ग्रन्थमें पाया जाता है×। आप कर्णाटक देशके निवासी थे। कन्नड भाषामें लिखे हुए 'पूज्यपादचरिते' तथा 'राजावलीकथे' नामक ग्रन्थोंमें आपके पिताका नाम 'माधवभट्ट' तथा माताका 'श्रीदेवी' दिया है और आपको ब्राह्मणकुलोद्भव लिखा है। इसके सिवाय, प्रसिद्ध व्याकरणकार 'पाणिनि' ऋषिको आपका मातुल (मामा) भी बतलाया है, जो समयादिककी दृष्टिसे विश्वास किये जानेके योग्य नहीं है।

समाधितंत्र-परिचय

अब मैं पूज्यपादके ग्रन्थोंमेंसे 'समाधितंत्र' ग्रंथका कुछ विशेष परिचय अपने पाठकोंको देना चाहता हूं। यह ग्रन्थ आध्यात्मिक है और जहाँ तक मैंने अनुभव किया है ग्रन्थकार-महोदयके अन्तिम जीवनकी कृति है—उस समयके करीबकी रचना है जब कि आचार्यमहोदयकी प्रवृत्ति बाह्य-विषयोंसे हटकर बहुत ज्यादा

---

*यह शान्त्यष्टक "न स्नेहाच्छरणं प्रयान्ति भगवन्" इत्यादि पद्यसे प्रारम्भ होता है और 'दशभक्ति' आदिके साथ प्रकाशित भी हो चुका है। इसके अन्तिम आठवें पद्यमें "मम भाक्तिकस्य च विभो दृष्टिं प्रसन्नां कुरु" ऐसा द्व्यर्थक वाक्य भी पाया जाता है, जो दृष्टि-प्रसन्नताकी प्रर्थनाको लिये हुए है।

× जैसा कि दर्शनसारकी निम्न दो गाथाओंसे प्रकट है:—

सिरिपुज्जपादसीसो दाविडसंघस्स कारगो दुट्ठो।
णामेण वज्जणंदी पाहुडवेदी महासत्तो ॥ २४ ॥
पंचसए छव्वीसे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
दक्खिणमहुराजादो दाविडसंघो महामोहो ॥२८॥

अन्तर्मुखी हो गई थी और आप स्थितप्रज्ञ-जैसी स्थितिको पहुँच गये थे। यद्यपि जैनसमाजमें अध्यात्म-विषयके कितने ही ग्रन्थ उपलब्ध हैं और प्राकृतभाषाके 'समयसार' जैसे महान् एवं गूढ ग्रंथ भी मौजूद हैं परन्तु यह छोटा-सा संस्कृत ग्रंथ अपनी खास विशेषता रखता है। इसमें थोड़े ही शब्दों द्वारा सूत्ररूपसे अपने विषयका अच्छा प्रतिपादन किया गया है; प्रतिपादन शैली बड़ी ही सरल, सुन्दर एवं हृदय-ग्राहिणी है; भाषा-सौष्ठव देखते ही बनता है और पद्य-रचना प्रसादादि गुणोंसे विशिष्ट है। इसीसे पढ़ना प्रारम्भ करके छोड़नेको मन नहीं होता—ऐसा मालूम होता है कि समस्त अध्यात्मवाणीका दोहन करके अथवा शास्त्र-समुद्रका मन्थन करके जो नवनीताऽमृत (मक्खन) निकाला गया है वह सब इसमें भरा हुआ है और अपनी सुगन्धसे पाठक-हृदयको मोहित कर रहा है। इस ग्रन्थके पढ़नेसे चित्त बड़ा ही प्रफुल्लित होता है, पद-पद पर अपनी भूलका बोध होता चला जाता है, अज्ञानादि मल छँटता रहता है और दुःख-शोकादि आत्माको सन्तप्त करनेमें समर्थ नहीं होते।

इस ग्रन्थमें शुद्धात्माके वर्णनकी मुख्यता है और वह वर्णन पूज्यपादने आगम, युक्ति तथा अपने अन्तःकरणकी एकाग्रता-द्वारा सम्पन्न स्वानुभवके बलपर भले प्रकार जाँच पड़तालके बाद किया है; जैसा कि ग्रन्थके निम्न प्रतिज्ञा-वाक्यसे प्रकट है:—

श्रुतेन लिङ्गेन यथात्मशक्ति समाहितान्तःकरणेन सम्यक्।
समीक्ष्य कैवल्यसुखस्पृहाणां विविक्तमात्मानमथाभिधास्ये ॥३॥

ग्रन्थका तुलनात्मक अध्ययन करनेसे भी यह मालूम होता है कि इसमें श्री कुन्दकुन्द-जैसे प्राचीन आचार्योंके आगम-वाक्योंका बहुत कुछ अनुसरण किया गया है। कुन्दकुन्दका—

"एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा"* ॥

यह वाक्य तो इस ग्रन्थका प्राण जान पड़ता है। ग्रन्थके कितने ही पद्य कुन्दकुन्दके 'मोक्ष प्राभृत'की गाथाओंको सामने रखकर रचे गये हैं—ऐसी कुछ गाथाएँ पद्य नं० ४, ५, ७, १०, ११, १२, १८, ७८, १०२ के नीचे फुटनोटोंमें उद्धृत भी करदी गई हैं, उन परसे इस विषयकी सत्यताका हरएक पाठक सहज हीमें अनुभवकर सकता है। यहां पर उनमेंसे दो गाथाएँ और एक गाथा नियमसारकी भी इस ग्रंथके पद्यों सहित नमूनेके तौर पर उद्धृत की जाती है:—

---

* यह गाथा नियमसारमें नं० १०२ पर और मोक्षप्राभृतमें नं० ५९ पर पाई जाती है। इसमें यह बतलाया है कि—'मेरा आत्मा एक है—खालिस है, उसमें किसी दूसरे का मिश्रण नहीं—शाश्वत है—,कभी नष्ट होने वाला नहीं—और ज्ञान-दर्शन-लक्षणवाला (ज्ञाता-द्रष्टा) है; शेष संयोग-लक्षणवाले समस्त पदार्थ मेरे आत्मा से बाह्य हैं—वे मेरे नहीं हैं और न मैं उनका हूं।'

जं मया दिस्सदे रूवं तण्ण जाणादि सव्वहा ।
जाणगं दिस्सदे णं तं तम्हा जंपेमि केण हं ॥२९॥

—मोक्षप्राभृत

यन्मया दृश्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा ।
जानन्न दृश्यते रूपं ततः केन ब्रवीम्यहम् ॥१८॥

—समाधितंत्र

जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि ।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणे कज्जे ॥३१॥

—मोक्षप्राभृत

व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यात्मगोचरे ।
जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन्सुषुप्तश्चात्मगोचरे ॥ ७८ ॥

—समाधितंत्र

णियभावं ण वि मुच्चइ परभावं णेव गेण्हइ केइं ।
जाणदि पस्सदि सव्वं सोहं इदि चिंतए णाणी ॥९७॥

—नियमसार

यद्ग्राह्यं न गृह्णाति गृहीतं नापि मुञ्चति ।
जानाति सर्वथा सर्वं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ॥२०॥

—समाधितंत्र

इससे उक्त पद्य नं० ३ में प्रयुक्त हुआ 'श्रुतेन' पद बहुत ही सार्थक जान पड़ता है। 'लिङ्गेन' तथा 'समाहितान्तः करणेन' पद भी ऐसे ही सार्थक हैं। यदि श्रीकुन्दकुन्दके समयसारकी गाथा नं० ४३८ से ४४४ तक के कथनकी इस ग्रंथके पद्य नं० ८७,८८ के साथ तुलना की जाय तो पूज्यपादकी विशेषताके साथ उनके युक्ति-पुरस्सर तथा स्वानुभवपूर्वक कथनका कितना ही सुन्दर आभास मिल सकता है। वस्तुतः इस ग्रन्थ में ऐसी कोई भी बात कही गई मालूम नहीं होती जो युक्ति, आगम तथा स्वानुभवके विरुद्ध हो। और इस लिये यह ग्रन्थ बहुत ही प्रामाणिक है। इसीसे उत्तरवर्ती आचार्योंने इसे खूब अपनाया है—परमात्मप्रकाश और ज्ञानार्णव-जैसे ग्रंथोंमें इसका खुला अनुसरण किया गया है, जिसके कुछ नमूने इस ग्रंथके फुटनोटोंमें दिखाये गये हैं।

चूँकि ग्रन्थमें शुद्धात्माके कथनकी प्रधानता है और शुद्धात्माको समझनेके लिये अशुद्धात्माको जाननेकी भी जरूरत होती है, इसीसे ग्रन्थमें आत्माके बहिरात्मा अन्तरात्मा और परमात्मा ऐसे तीन भेद करके उनका स्वरूप समझाया है। साथ ही, परमात्माको उपादेय (आराध्य), अन्तरात्माको उपायरूप आराधक और बहिरात्माको हेय (त्याज्य) ठहराया है। इन तीनों आत्म-भेदोंका स्वरूप समझानेके

लिये ग्रंथमें जो कलापूर्ण तरीका अख्तियार किया गया है वह बड़ा ही सुन्दर एवं स्तुत्य है और उसके लिये ग्रन्थको देखते ही बनता है। यहां पर मैं अपने पाठकोंको सिर्फ उन पदोंका ही परिचय करा देना चाहता हूं जो बहिरात्मादिका नामोल्लेख अथवा निर्देश करनेके लिये ग्रन्थमें प्रयुक्त किये गये हैं और जिनसे विभिन्न आत्माओंके स्वरूप पर अच्छा प्रकाश पड़ता है और वह नयविवक्षाके साथ अर्थपर दृष्टि रखते हुए उनका पाठ करनेसे सहज हीमें अवगत होजाता है। इन पदोंमेंसे कुछ पद ऐसे भी हैं जिनका मूलप्रयोग द्वितीयादि विभक्तियों तथा बहुवचनादिके रूपमें हुआ है परन्तु अर्थावबोधकी सुविधा एवं एकरूपताकी दृष्टिसे उन्हें यहां प्रथमाके एकवचनमें ही रख दिया गया है। अस्तु; बहिरात्मादि-निदर्शक वे पद्य क्रमशः निम्न प्रकार हैं। उनके स्थान-सूचक-पद्याङ्क भी साथमें दिये जाते हैं:—

(१) बहिरात्म-निदर्शक पद—

बहिः ४; बहिरात्मा ५, ७, २७; शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिः ५; आत्मज्ञानपराङ्-मुखः ७; अविद्वान् ८; मूढः १०,४४,४७; अविदितात्मा ११; देहे स्वबुद्धिः १३; मूढात्मा २९,५६,५८,६०; उत्पन्नात्ममतिर्देहे ४२; परत्राहम्मतिः ४३; देहात्मदृष्टिः ४९, ९४; अविद्यामयरूपः ५३; वाक्शरीरयोः भ्रान्तः ५४; बालः ५५; पिहितज्योतिः ६०; अबुद्धिः ६१, ६९; शरीरकंचुकेन संवृतज्ञानविग्रहः ६८; अनात्मदर्शी ७३, ९३; दृढात्मबुद्धिर्देहादौ ७६; आत्मगोचरे सुषुप्तः ७८; मोही ९०; अनन्तरज्ञः ९१,-अक्षीणदोषः-सर्वावस्थाऽऽत्मदर्शी ९३; जडः १०४।

(२) अन्तरात्म-निदर्शक पद—

अन्तः ४, १५, ६०; आन्तरः ५; चित्तदोषाऽऽत्मविभ्रान्तिः ५; स्वात्मन्येवात्मधीः १३; बहिरव्यापृतेन्द्रियः १५; देहादौ विनिवृत्तात्मविभ्रमः २२; अन्तरात्मा २७, ३०; तत्त्वज्ञानी ४२; स्वस्मिन्नहम्मतिः ४३; बुधः ४३, ६३-६६; आत्मदेहान्त-ज्ञानजनिताल्हादनिर्वृतः ३४; अवबुद्धः ४४; आत्मवित् ४७; स्वात्मन्येवात्मदृष्टिः ४९,-नियतेन्द्रियः ५१; आरब्धयोगः-भावितात्मा ५२; वाक्शरीरयोरभ्रान्तः ५४; आत्म-तत्त्वे व्यवस्थितः ५७; प्रबुद्धात्मा ६०; बहिर्व्यावृत्तकौतुकः ६०; दृष्टात्मा ७२, ९२; आत्मन्येवात्मधीः ७७; व्यवहारे सुषुप्तः ७८; दृष्टात्मतत्त्वः—स्वभ्यस्तात्मधीः ८०; मोक्षार्थी ८३, योगी ८६, १००; दृष्टभेदः ९२; आत्मदर्शी ९३; ज्ञातात्मा ९४; मुनिः १०२; विद्वान् १०४; परात्मनिष्ठः १०५।

(३) परमात्म-निदर्शक पद—

अक्षयानन्तबोधः १, सिद्धात्मा १; अनीहिता-तीर्थकृत् २; शिवः-धाता-सुगतः-विष्णुः २; जिनः २, ६; विविक्तात्मा ३, ७३; परः ४, ८६, ९७; परमः ४, ३१, ९८; परमात्मा ५, ६, १७, २७, ३०; अतिनिर्मलः ५; निर्मलः-केवलः-शुद्धः-विविक्तः-प्रभुः-परमेष्ठी-परात्मा-ईश्वरः ६; अव्ययः ६, ३३; अनन्तानन्तधीशक्तिः-अचलस्थितिः ९, स्वसंवेद्यः ९, २०, २४; निर्विकल्पकः १९; अतीन्द्रियः-अनिर्देश्यः २२; बोधात्मा २५, ३२; सर्वसंकल्पवर्जितः २७; परमानन्दनिर्वृतः ३२; स्वस्थात्मा ३९; उत्तमः कायः ४०; निष्ठितात्मा ४७; सानंदज्योतिरुत्तमः ५१; विद्यामयरूपः ५३; केवलज्ञप्तिविग्रहः ७०;

अच्युतः ७९; परमं परमात्मनः ८४, ८९, १०४; परं पदं ८५; परात्मज्ञानसम्पन्नः ८६; अवाचां गोचरं पदं ९९।

यह त्रिधात्मक—पदावली त्रिधात्माके स्वरूपको व्यक्त करनेके लिये कितनी सुन्दर एवं भावपूर्ण है उसे बतलानेकी जरूरत नहीं—सहृदय पाठक सहज ही में उसका अनुभव कर सकते हैं। हां, इतना जरूर कहना होगा कि एक छोटेसे ग्रन्थमें एक ही आत्मविषयको स्पष्ट करनेके लिये इतने अधिक विभिन्न शब्दोंका ऐसे अच्छे ढंगसे प्रयोग किया जाना, निःसंदेह, साहित्यकी दृष्टिसे भी कुछ कम महत्त्वकी चीज नहीं है। इससे ग्रंथकार महोदयके रचना-चातुर्य अथवा शब्द-प्रयोग-कौशल्यका भी कितना ही पता चल जाता है।

समाधितंत्रमें और क्या कुछ विशेष वर्णन है उस सबका संक्षिप्त परिचय ग्रंथके साथमें दी हुई विषयानुक्रमणिकाको देखनेसे सहजमें ही मालूम हो सकता है। वहीं पर कोष्ठकमें मूल श्लोकोंके नम्बर भी दे दिये हैं। यहां पर उसकी पुनरावृत्ति करके प्रस्तावनाके कलेवरको बढ़ानेकी जरूरत मालूम नहीं होती। और न ग्रन्थ-विषयका दूसरे तत्सम ग्रन्थोंके साथ तुलनाका अपनेको यथेष्ट अवकाश ही प्राप्त है, अतः जो तुलना ऊपर की जा चुकी है उसीपर सन्तोष रखते हुए शेषको छोड़ा जाता है।

ग्रन्थनाम और पद्यसंख्या

यह ग्रंथ १०५ पद्योंका है, जिनमेंसे दूसरा पद्य 'वंशस्थ' वृत्तमें, तीसरा 'उपेन्द्रवज्रा' में, अन्तिम पद्य 'वसंततिलका' छन्दमें और शेष सब 'अनुष्टुप् छंदमें है। अन्तिम पद्यमें ग्रंथका उपसंहार करते हुए, ग्रंथका नाम 'समाधितंत्र' दिया है और उसे उस ज्योतिर्मय कैवल्य सुखकी प्राप्तिका उपायभूत-मार्ग बतलाया है जिसके अभिलाषियोंको लक्ष्य करके ही यह ग्रंथ लिखा गया है और जिसकी सूचना प्रतिज्ञा-वाक्य (पद्य नं० ३) में प्रयुक्त हुए "कैवल्यसुखस्पृहाणाम्" पदके द्वारा की गई है। साथ ही, ग्रंथ-प्रतिपादित उपायका संक्षिप्त-रूपमें दिग्दर्शन कराते हुए ग्रंथके अध्ययन एवं अनुकूल वर्तनका फल भी प्रकट किया गया है। वह अन्तिम सूत्र-वाक्य इस प्रकार है:—

मुक्त्वा परत्र परबुद्धिमहंधियं च संसारदुःखजननीं जननाद्विमुक्तः
ज्योतिर्मयं सुखमुपैति परात्मनिष्ठस्तन्मार्गमेतदधिगम्य समाधितंत्रम्
॥ १०५ ॥

प्रायः १०० श्लोकोंका होनेके कारण टीकाकार प्रभाचंद्रने इस ग्रंथको अपनी टीकामें 'समाधिशतक' नाम दिया है और तबसे यह 'समाधिशतक' नामसे भी अधिकतर उल्लेखित किया जाता है अथवा लोकपरिचयमें आरहा है।

मेरे इस कथनको 'जैनसिद्धांत भास्कर' में—'श्री पूज्यपाद और उनका समाधि-तंत्र❋' शीर्षकके नीचे—देखकर डाक्टर परशुराम लक्ष्मण (बी० एल०) वैद्य, एम० ए० प्रोफेसर वाडियाकालिज पूनाने, हालमें प्रकाशित 'समाधिशतक'के मराठी संस्करणकी अपनी प्रस्तावनामें, उसपर कुछ आपत्ति की है। आपकी रायमें ग्रन्थका असली नाम

❋ यह लेख 'जैनसिद्धान्त भास्कर' के पांचवें भागकी प्रथम किरणमें प्रकाशित हुआ है।

'समाधिशतक' और उसकी पद्यसंख्या १०० या ज्यादासे ज्यादा १०१ है। आप पद्य नं० २, ३, १०३, १०४ को तो 'निश्चितरूपसे (खातौरसे) प्रक्षिप्त' बतलाते हैं और १०५ को 'बहुधा प्रक्षिप्त' समझते हैं। 'बहुधा प्रक्षिप्त' समझनेका अभिप्राय है उसकी प्रक्षिप्ततामें संदेहका होना—अर्थात् वह प्रक्षिप्त नहीं भी हो सकता है। जब पद्य नं० १०५ का प्रक्षिप्त होना संदिग्ध है तब ग्रंथका नाम 'समाधिशतक' होना भी संदिग्ध हो जाता है; क्योंकि उक्त पद्यपरसे ग्रंथका नाम समाधितंत्र ही पाया जाता है, इसे डाक्टर साहबने स्वयं स्वीकार किया है। अस्तु।

जिन्हें निश्चितरूपसे प्रक्षिप्त बतलाया गया है उनमेंसे पद्य नं० २, ३ की प्रक्षिप्तताके निश्चयका कारण है उनका छन्दभेद ये दोनों पद्य ग्रन्थके साधारण वृत्त अनुष्टुप् छन्दमें न लिखे जाकर क्रमशः 'वंशस्थ' तथा 'उपेन्द्रवज्रा' छन्दोंमें लिखे गये हैं ॐ। डाक्टर साहबका खयाल है कि अनुष्टुप् छन्दमें अपने ग्रन्थको प्रारम्भ करने वाला और आगे प्रायः सारा ग्रन्थ उसी छन्दमें लिखने वाला कोई ग्रन्थकार बीचमें और खासकर प्रारम्भिक पद्यके बाद ही दूसरे छन्दकी योजना करके 'प्रक्रमभंग' नहीं करेगा। परन्तु ऐसा कोई नियम अथवा रूल नहीं है जिससे ग्रन्थकार की इच्छापर इस प्रकारका कोई नियंत्रण लगाया जासके। अनेक ग्रन्थ इसके अपवाद-स्वरूप भी देखनेमें आते हैं। उदाहरणके लिये महान् ग्रंथकार भट्टाकलंकदेवके 'लघीयस्त्रय' और 'न्यायविनिश्चय' जैसे कुछ ग्रंथोंको प्रमाणमें पेश किया जा सकता है जिनका पहला पद्य अनुष्टुप् छन्द में है और जो प्रायः अनुष्टुप् छन्दमें ही लिखे गये हैं परन्तु उनमेंसे प्रत्येकका दूसरा पद्य 'शार्दूलविक्रीडित' छन्दमें है और वह कण्टकशुद्धिको लिये हुए ग्रंथका खास अंगस्वरूप है। 'सिद्धिविनिश्चय' ग्रंथमें भी इसी पद्धतिका अनुसरण पाया जाता है। ऐसी हालतमें छन्दभेदके कारण उक्त दोनों पद्योंको प्रक्षिप्त नहीं कहा जा सकता।

ग्रंथके प्रथम पद्यमें निष्कलात्मरूप सिद्धपरमात्माको और दूसरे पद्यमें सकलात्मरूप अर्हत्परमात्माको नमस्काररूप मंगलाचरण किया गया है—परमात्मा के ये ही दो मुख्य अवस्थाभेद हैं, जिन्हें इष्ट समझकर स्मरण करते हुए यहां थोड़ा-सा व्यक्त भी किया गया है। इन दोनों पद्योंमें ग्रंथ-रचना-सम्बन्धी कोई प्रतिज्ञा वाक्य नहीं है—ग्रंथके अभिधेय-सम्बन्ध-प्रयोजनादि को व्यक्त करता हुआ वह प्रतिज्ञावाक्य पद्य नं० ३ में दिया है; जैसाकि ऊपर उसके उल्लेखसे स्पष्ट है। और इसलिये शुरूके ये तीनों पद्य परस्परमें बहुत ही सुसम्बद्ध हैं—उनमेंसे दो के प्रक्षिप्त होनेकी कल्पना करना, उन्हें टीकाकार प्रभाचन्द्रके पद्य बतलाना और उनकी व्यवस्थित टीकाको किसीका टिप्पण कह कर यों ही ग्रंथमें घुसड़ जानेकी बात करना बिल्कुल ही निराधार जान पड़ता है। डा० साहब प्रथम पद्यमें प्रयुक्त हुए "अक्षयानन्तबोधाय तस्मै सिद्धात्मने नमः" (उस अक्षय-अनन्तबोधस्वरूप परमात्माको नमस्कार) इस वाक्यकी मौजूदगीमें, तीसरे पद्यमें निर्दिष्ट हुए ग्रंथके प्रयोजनको

ॐ डाक्टर साहबने द्वितीय पद्यको 'उपेन्द्र वज्रा' में और तृतीयको 'वंशस्थ' वृत्तमें लिखा है, यह लिखना आपका छन्दशास्त्रकी दृष्टिसे गलत है और किसी भूलका परिणाम जान पड़ता है।

अप्रस्तुत-स्थलका (बेमौका) बतलाते हुए उसे अनावश्यक तथा पुनरुक्त तक प्रकट करते हैं; जबकि अप्रस्तुत-स्थलता और पुनरुक्तताकी वहां कोई गंध भी मालूम नहीं होती; परन्तु टीकाके मंगलाचरण-पद्यमें प्रयुक्त हुए "वक्ष्ये समाधिशतकं" (मैं समाधिशतक की व्याख्या करता हूं) इस प्रतिज्ञावाक्यकी मौजूदगीमें, तीसरे पद्यको टीकाकारका बतलाकर उसमें प्रयुक्त हुए प्रतिज्ञावाक्यको प्रस्तुत-स्थलका, आवश्यक और अपुनरुक्त समझते हैं, तथा दूसरे पद्यको भी टीकाकारका बतलाकर प्रतिज्ञाके अनन्तर पुनः मंगलाचरणको उपयुक्त समझते हैं, यह सब अजीब-सी ही बात जान पड़ती है ! मालूम होता है आपने इन प्रभाचन्द्रके किसी दूसरे टीकाग्रथके साथ इस टीका की तुलना नहीं की, यदि रत्नकरण्डश्रावकाचारकी टीकाके साथ ही इस टीकाकी तुलना की होती तो आपको टीकाकारके मंगलाचरणादि-विषयक टाइप-का—लेखनशैलीका—कितना ही पता चल गया होता और यह मालूम होगया होता कि यह टीकाकार अपनी ऐसी टीकाके प्रारम्भमें मंगलाचरण त था प्रतिज्ञा का एक ही पद्य देते हैं, और इसी तरह टीकाके अन्तमें उपसंहार आदिका भी प्रायः एक ही पद्य रखते हैं, और तब आपको मूलग्रन्थके उक्त दोनों पद्यों (नं० २, ३) को बलात् टीकाकारका बतलानेकी नौबत ही न आती।

हां, एक बात यहां और भी प्रकट करदेनेकी है और वह यह कि डा० साहब जब यह लिखते हैं कि "पूज्यपादांनीं हा विषय आगम, युक्ति, आणि अंतःकरणाची एकाग्रता करून त्यायोगें स्वानुभवसंपन्न होऊन त्याच्या आधारें स्पष्ट आणि सुल-भरीतीनें प्रतिपादला आहे" तब इस बातको भुलादेते हैं कि यह आगम, युक्ति और अन्तःकरणकी एकाग्रता-द्वारा सम्पन्न स्वानुभवके आधारपर ग्रंथ रचनेकी बात पूज्यपादने ग्रंथके तीसरे पद्यमें ही तो प्रकट की है—वहींसे तो वह उपलब्ध होती है—'फिर उस पद्यको मूलग्रंथका माननेसे क्यों इनकार किया जाता है ?' और यदि यह बात उनकी खुदकी जांच-पड़ताल तथा अनुसंधानसे सम्बन्ध रखती हुई होती तो वे आगे चल कर कुछ तत्सम ग्रंथोंकी सामान्य तुलनाका उल्लेख करते हुए, यह न लिखते कि 'उपनिषद् ग्रंथके कथनको यदि छोड़ दिया जाय तो परमात्मस्वरूपका तीन प्र-रूप वर्णन पूज्यपादने ही प्रथम किया है ऐसा कहनेमें कोई हरकत नहीं'। क्योंकि पूज्यपादसे पहलेके प्रसिद्ध आचार्य कुन्दकुन्दके मोक्षप्राभृत (मोक्खपाहुड) ग्रन्थमें त्रिधात्माका बहुत स्पष्टरूपसे वर्णन पाया जा ा है और पूज्यपादने उसे प्रायः उसी ग्रन्थपरसे लिया है; जैसा कि नमूनेके तौरपर दोनों ग्रन्थोंके निम्न दो पद्योंकी तुलनासे प्रकट है और जिससे यह स्पष्ट जाना जाता है कि समाधितंत्रका पद्य मोक्षप्राभृतकी गाथाका प्रायः अनुवाद है:—

> तिपयारो सो अप्पा परमंतरबाहिरो हु देहीणं।
> तत्थ परो झाइज्जइ अंतोवाएण चयदि बहिरप्पा ॥—मोक्षप्रा०

> बहिरन्तः परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु।
> उपेयात्तत्र परमं मध्योपायाद्बहिस्त्यजेत् ॥—समाधितंत्रम्

मालूम होता है मैंने अपने उक्त लेखमें ग्रन्थाधारकी जिस बातका उल्लेख करके प्रमाणमें ग्रंथके पद्य नं० ३ को उद्धृत किया था और जो ऊपर इस प्रस्तावनामें

भी पद्य नं० ३ के साथ ज्यों को त्यों दी हुई है उसे डाक्टर साहबने अनुवादरूपमें अपना तो लिया परन्तु उन्हें यह खयाल नहीं आया कि ऐसा करनेसे उनके उस मन्तव्यका स्वयं विरोध हो जाता है जिसके अनुसार पद्य नं० ३ को निश्चितरूपसे प्रक्षिप्त कहा गया है। अस्तु।

अब रही पद्य नं० १०३, १०४ की बात, इनकी प्रक्षिप्तताका कारण डा० साहब ग्रन्थके विषय और पूर्वपद्योंके साथ इनके प्रतिपाद्य-विषयकी असम्बद्धता बतलाते हैं—लिखते हैं "या दोन श्लोकान्त्या प्रतिपाद्य विषयांशीं व पूर्व श्लोकांशीं काहीं च संबंध दिसत नाहीं"। साथ ही, यह भी प्रकट करते हैं कि ये दोनों श्लोक कब, क्यों और कैसे इस ग्रन्थमें प्रविष्ट (प्रक्षिप्त) हुए हैं उसे बतलानेके लिये वे असमर्थ हैं। पिछली बातके अभावमें इन पद्योंकी प्रक्षिप्तताका दावा बहुत कमजोर हो जाता है; क्योंकि असम्बद्धताकी ऐसी कोई भी बात इनमें देखनेको नहीं मिलती। टीकाकार प्रभाचन्द्रने अपने प्रस्तावना-वाक्योंके द्वारा ग्रन्थके विषय तथा पूर्व पद्योंके साथ इनके सम्बन्धको भले प्रकार घोषित किया है। वे प्रस्तावनावाक्य अपने अपने पद्यके साथ इस प्रकार हैं—

"ननु यद्यात्मा शरीरात्सर्वथा भिन्नस्तदा कथमात्मनि चलति नियमेन तच्चलेत् तिष्ठति तिष्ठेदिति वदन्तं प्रत्याह—"

प्रयत्नादात्मनो वायुरिच्छाद्वेषप्रवर्तितात् ।
वायोः शरीरयन्त्राणि वर्तन्ते स्वेषु कर्मसु ॥ १०३ ॥

"तेषां शरीरयन्त्राणामात्मन्यारोपाऽनारोपौ कृत्वा जडविवेकिनौ किं कुर्वत इत्याह—"

तान्यात्मनि समारोप्य साक्षाण्यास्ते सुखं जडः ।
त्यक्त्वाऽऽरोपं पुनर्विद्वान् प्राप्नोति परमं पदम् ॥ १०४ ॥

इन प्रस्तावनावाक्योंके साथ प्रस्तावित पद्योंके अर्थको साथमें देखकर कोई भी सावधान व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि इनका ग्रन्थके विषय तथा पूर्वपद्योंके साथ कोई संबंध नहीं है—जिस मूल विषयको ग्रन्थमें अनेक प्रकारसे पुनः पुनः स्पष्ट किया गया है उसीको इन पद्योंमें भी प्रकारान्तरसे और भी अधिक स्पष्ट किया गया है और उसमें पुनरुक्तता-जैसी भी कोई बात नहीं है। इसके सिवाय, उपसंहारपद्यके पूर्व ग्रंथके विषयकी समाप्ति भी "अदुःखभावित" नामके भावनात्मक पद्य नं० १०२ की अपेक्षा पद्य नं० १०४ के साथ ठीक जान पड़ती है, जिसके अन्तमें साध्यकी सिद्धिके उल्लेखरूप "प्राप्नोति परमं पदम्" वाक्य पड़ा हुआ है और जो इस ग्रन्थके मुख्य प्रयोजन अथवा आत्माके अन्तिम ध्येयको स्पष्ट करता हुआ विषयको समाप्त करता है।

अब मैं पद्य नं० १०५ को भी लेता हूँ, जिसे डाक्टर साहबने सन्देह-कोटिमें रक्खा है। यह पद्य संदिग्ध नहीं है; बल्कि मूलग्रन्थका अन्तिम उपसंहार-पद्य है; जैसा कि मैंने इस प्रकरणके शुरूमें प्रकट किया है। पूज्यपादके दूसरे ग्रन्थोंमें भी, जिनका प्रारम्भ अनुष्टुप् छन्दके पद्यों- द्वारा होता है, ऐसे ही उपसंहार-पद्य पाये जाते हैं जिनमें ग्रन्थ-कथित विषयका संक्षेपमें उल्लेख करते हुए ग्रन्थका नामादिक

भी दिया हुआ है। नमूने के तौर पर 'इष्टोपदेश' और 'सर्वार्थसिद्धि' ग्रन्थोंके दो उपसंमहार-पद्योंको नीचे उद्धृत किया जाता है :—

इष्टोपदेशमिति सम्यगधीत्य धीमान्
मानाऽपमानसमतां स्वमताद्वितन्य ।
मुक्ताग्रहो विनिवसन्सजने वने वा
मुक्तिश्रियं निरुपमामुपयाति भव्यः ॥—इष्टोपदेशः ।

स्वर्गाऽपवर्गसुखमाप्तुमनोभिरार्यै-
र्जैनेन्द्रशासनवरामृतसारभूता ।
सर्वार्थसिद्धिरिति सद्भिरुपात्तनामा
तत्त्वार्थवृत्तिरनिशं मनसा प्रधार्या—सर्वार्थसिद्धिः ।

इन पद्योंपरसे पाठकोंको यह जानकर आश्चर्य होगा कि ये दोनों पद्य भी उसी वसन्ततिलका' छन्दमें लिखे गये हैं जिसमें कि समाधितंत्रका उक्त उपसंहार-पद्य पाया जाता है। तीनों ग्रन्थोंके ये तीनों पद्य एक ही टाइपके हैं और वे अपने एक ही आचार्य-द्वारा रचे जाने की स्पष्ट घोषणा करते हैं। इसलिये समाधितंत्रका पद्य नं० १०५ पूज्यपादकृत ही है, इसमें सन्देहको जरा भी स्थान नहीं है।

जब पद्य नं० १०५ असन्दिग्धरूपसे पूज्यपादकृत है तब ग्रन्थका असली मूल नाम भी समाधितंत्र ही है; क्योंकि इसी नामका उक्त पद्यमें निर्देश है, जिसे डा० साहबने भी स्वयं स्वीकार किया है। और इसलिये 'समाधिशतक' नामकी कल्पना बाद की है—उसका अधिक प्रचार टीकाकार प्रभाचन्द्रके बाद ही हुआ है। श्रवणबेल्गोलके जिस शिलालेख नं० ४० में इस नामका उल्लेख आया है वह विक्रमकी १३ वीं शताब्दीका है और टीकाकार प्रभाचन्द्रका समय भी विक्रमकी १३ वीं शताब्दी है।

इस तरह इस ग्रन्थका मूलनाम 'समाधितंत्र' उत्तरनाम या उपनाम 'समाधिशतक' है और इसकी पद्यसंख्या १०५ है—उसमें पाँच पद्योंके प्रक्षिप्त होनेकी जो कल्पना की जाती है वह निरी निर्मूल और निराधार है। ग्रन्थकी हस्तलिखित मूल प्रतियोंमें भी यही १०५ पद्यसंख्या पाई जाती है। देहली आदिके अनेक भण्डारोंमें मुझे इस मूलग्रन्थकी हस्तलिखित प्रतियोंके देखनेका अवसर मिला है—देहली सेठके कूचेके मन्दिरमें तो एक जीर्ण-शीर्ण प्रति कईसौ वर्षकी पुरानी लिखी हुई जान पड़ती है। जैनसिद्धान्त भवन आराके अध्यक्ष पं० के० भुजवलीजी शास्त्री से दर्याफ्त करने पर भी यही मालूम हुआ कि वहां ताडपत्रादि पर जितनी भी मूलप्रतियां है उन सबमें इस ग्रन्थकी पद्यसंख्या १०५ ही दी है। और इसलिये डा० साहबका यह लिखना उचित प्रतीत नहीं होता कि 'इस टीका से रहित मूल-ग्रन्थकी हस्तलिखित प्रतियां उपलब्ध नहीं हैं।'

ऐसा मालूम होता है कि 'शतक' नाम परसे डा० साहबको ग्रन्थमें १०० पद्योंके होनेकी कल्पना उत्पन्न हुई है और उसी परसे उन्होंने उक्त पांच पद्योंको प्रक्षिप्त करार देनेके लिये अपनी बुद्धिका व्यापार किया है, जो ठीक नहीं जान पड़ता;

क्योंकि शतक ग्रन्थके लिये ऐसा नियम नहीं है कि उसमें पूरे १०० ही पद्य हों, प्रायः १०० पद्य होने चाहिये'—दो, चार, दस पद्य ऊपर भी हो सकते हैं। उदाहरणके लिये भर्तृहरि-नीतिशतकमें ११०, वैराग्यशतकमें ११३, भूधर-जैनशतकमें १०७, ध्यानशतकमें १०५ और श्रीसमन्तभद्रके जिनशतकमें ११६ पद्य पाये जाते हैं। अतः ग्रंथका उत्तर नाम या उपनाम 'समाधिशतक' होते हुए भी उसमें १०५ पद्योंका होना कोई आपत्तिकी बात नहीं है।

टीकाकार प्रभाचन्द्र

इस ग्रन्थके साथमें जो संस्कृत टीका प्रकाशित होरही है, उसके रचयिता 'प्रभाचन्द्र' हैं। अन्तिम पुष्पिकामें प्रभाचन्द्रको 'पण्डित प्रभाचन्द्र' लिखा है; परन्तु इससे उन्हें कोई गृहस्थ पण्डित न समझ लेना चाहिये। टीका-प्रशस्तिमें 'प्रभेन्दु' के लिये प्रयुक्त हुए 'प्रभुः' आदि विशेषणोंसे यह साफ जाना जाता है कि वे कोई आचार्य अथवा भट्टारक थे। अविद्वान् भट्टारकोंसे व्यावृत्ति करानेके लिये बादको अच्छे पढ़े-लिखे विद्वान् भट्टारकोंके नामके साथ 'पण्डित' विशेषण लगाया जाने लगा था; जैसा कि आजकल स्थानकवासी समाजमें जो मुनि अच्छे पढ़े-लिखे विद्वान मिलते हैं उन्हें 'पण्डितमुनि' लिखा जाने लगा है। टीकाप्रशस्ति अथवा टीकाके उपसंहार-पद्यमें टीकाकार प्रभाचन्द्रका न तो कोई विशेष परिचय है और न टीकाके बननेका समय ही दिया है। टीकाकारने कहीं पर अपने गुरुका नामोल्लेख तक भी नहीं किया है। और जैनसमाजमें 'प्रभाचन्द्र' नामके बीसियों मुनि, आचार्य तथा भट्टारक होगये हैं, जिनमेंसे बहुतोंका संक्षिप्त परिचय मैंने रत्नकरण्ड-श्रावकाचारकी अपनी उस प्रस्तावनामें दिया है जो माणिकचन्द्र-ग्रन्थमालामें प्रकट होनेवाली सटीक रत्नकरण्डश्रावकाचारके साथ प्रकाशित हुई है। ऐसी हालतमें यह टीका कौनसे प्रभाचन्द्रकी बनाई हुई है और कब बनी है, इस प्रश्नका उत्पन्न होना स्वाभाविक है।

जहां तक मैंने इस प्रश्नपर विचार किया है मुझे इस विषयमें कोई संदेह मालूम नहीं होता कि यह टीका उन्हीं प्रभाचन्द्राचार्यकी बनाई हुई है जो कि रत्न-करण्डश्रावकाचारकी टीकाके कर्ता हैं। उस टीकाके साथ जब इस टीकाका मिलान किया जाता है तब दोनोंमें बहुत बड़ा सादृश्य पाया जाता है। दोनोंकी प्रतिपादन-शैली, कथन करनेका ढंग और साहित्यकी दशा एक-जैसी मालूम होती है। वह भी इस टीकाकी तरह प्रायः शब्दानुवादको ही लिए हुए है। दोनोंके आदि-अन्तमें एक एक ही पद्य है और उनकी लेखन-पद्धति भी अपने अपने प्रतिपाद्य विषयकी दृष्टिसे समान पाई जाती है। नीचे इस सादृश्यका अनुभव करानेके लिये कुछ उदाहरण नमूनेके तौर पर दिये जाते हैं:—

(१) दोनों टीकाओंके आदि मंगलाचरणके पद्य इस प्रकार हैं:—

समन्तभद्रं निखिलात्मबोधनं जिनं प्रणम्याखिलकर्मशोधनम्।
निबन्धनं रत्नकरण्डकं परं करोमि भव्यप्रतिबोधनाकरम्॥ १॥

—रत्नकरण्डकटीका

सिद्धं जिनेन्द्रमलमप्रतिमप्रबोधं निर्वाणमार्गममलं विबुधेन्द्रवंद्यम्।
संसारसागरसमुत्तरणप्रपोतं वक्ष्ये समाधिशतकं प्रणिपत्य वीरम् ।१।

—समाधितंत्रटीका

ये दोनों पद्य इष्टदेवको नमस्कारपूर्वक टीका करनेकी प्रतिज्ञाको लिये हुए हैं, दोनोंमें प्रकारान्तरसे ग्रन्थकर्ता* और मूलग्रंथको भी स्तुतिका विषय बनाया गया है और उनके अप्रतिमप्रबोधं-निखिलात्मबोधनं तथा निर्वाणमार्ग--अखिलकर्म-शोधनं, इत्यादि कुछ विशेषण भी, अर्थकी दृष्टिसे, परस्पर मिलते जुलते हैं।

(२) मंगलाचरणके बाद दोनों टीकाओंके प्रस्तावनावाक्य इस प्रकार हैं—

श्रीसमन्तभद्रस्वामी रत्नानां रक्षणोपायभूतरत्नकरण्डकप्रख्यं सम्यग्दर्शनादिरत्नानां पालनोपायभूतं रत्नकरण्डकाख्यं शास्त्रं कर्तुकामो निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकं फलमभिलषन्निष्ट-देवताविशेषं नमस्कुर्वन्नाह । —रत्नकरण्डकटीका

श्रीपूज्यपादस्वामी मुमुक्षूणां मोक्षोपायं मोक्षस्वरूपं चोपदर्शयितुकामो निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकं फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेषं नमस्कुर्वाणो येनात्मेत्याह । —समाधितंत्रटीका

(३) दोनों टीकाओंमें अपने ग्रंथके प्रथम पद्यका सारांश इस प्रकार दिया है—

"अत्र पूर्वार्द्धेन भगवतः सर्वज्ञतोपायः, उत्तरार्द्धेन च सर्वज्ञतोक्ता ।"

—रत्नकरण्डकटीका

"अत्र पूर्वार्द्धेन मोक्षोपायः, उत्तरार्द्धेन च मोक्षस्वरूपमुपदर्शितम् ।"

—समाधितंत्रटीका

इससे स्पष्ट है कि दोनों टीकाओंके कथनका ढंग और शब्दविन्यास एक-जैसा है।

(४) दोनों टीकाओंमें 'परमेष्ठी' पदकी जो व्याख्या की गई है वह एक ही जैसी है। यथा—

परमे इन्द्रादीनां वंद्ये पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी ।

—रत्नकरण्डकटीका

परमे इन्द्रादिवंद्ये पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी स्थानशीलः ।

—समाधितंत्रटीका

(५) दोनों टीकाओंके अन्तिम पद्य इस प्रकार हैं—

---

*पहले पद्यमें 'जिनेन्द्र' पदके द्वारा ग्रन्थकर्ताका नामोल्लेख किया गया है; क्योंकि पूज्यपादका 'जिनेन्द्र' अथवा 'जिनेन्द्रबुद्धि' भी नामान्तर है और 'विबुधेन्द्रवंद्य' पद पूज्यपाद नामका भी द्योतक है।

येनाज्ञानतमो विनाश्य निखिलं भव्यात्मचेतो गतं
सम्यग्ज्ञानमहांशुभिः प्रकटितः सागारमार्गोऽखिलः ।
स श्रीरत्नकरण्डकामलरविः संसृत्सरिच्छोषको
जीयादेष समन्तभद्रमुनिपः श्रीमत्प्रभेन्दुर्जिनः ॥

—रत्नकरण्डकटीका

येनात्मा बहिरन्तरुत्तमभिधा त्रेधा विवृत्योदितो
मोक्षोऽनन्तचतुष्टयामलवपुः सद्ध्यानतः कीर्तितः ।
जीयात्सोऽत्र जिनः समस्तविषयः श्रीपादपूज्योऽमलो
भव्यानन्दकरः समाधिशतकः श्रीमत्प्रभेन्दुः प्रभुः ॥

—समाधितंत्रटीका

इन दोनों पद्योंमें, अपने अपने ग्रन्थके प्रतिपाद्य विषयका सारांश देते हुए, जिस युक्तिसे जिनदेव, ग्रन्थकार (श्रीपादपूज्य, समन्तभद्रमुनि), ग्रन्थ (समाधिशतक, रत्नकरण्डक) और टीकाकार (प्रभेन्दु=प्रभाचन्द्र) को आशीर्वाद दिया गया है वह दोनोंमें बिल्कुल एक ही है, दोनों की प्रतिपादन-शैली अथवा लेखन-पद्धतिमें जरा भी भेद नहीं है, छंद भी दोनोंका एक ही है और दोनोंमें 'येन, जिनः श्रीमान, प्रभेन्दुः, सः, जीयात्' पदोंकी जो एकता और 'कीर्तितः, प्रकटितः' आदि पदोंके प्रयोगकी जो समानता पाई जाती है वह मूल पद्योंपरसे प्रकट ही है, उसे और स्पष्ट करके बतलानेकी कोई जरूरत नहीं है ।

रत्नकरण्डश्रावकाचारकी टीका विक्रमकी १३ वीं शताब्दीकी बनी हुई है, यह बात मैं ने रत्नकरण्डश्रावकाचारकी अपनी उक्त प्रस्तावनामें सिद्ध की है, और इस लिये समाधितंत्रकी यह टीका भी प्रायः विक्रमकी १३ वीं शताब्दीकी ही जान पड़ती है।

वीर-सेवा-मन्दिर, सरसावा
ता० ५-५-१९३९

जुगलकिशोर मुख्तार

प्रस्तावना की कुछ अशुद्धियां

प्रथम पृष्ठकी १० वीं पंक्तिमें 'श्रीपूज्यपादो'की जगह 'श्रीथूज्यपादो', द्वितीय पृष्ठ के फुटनोटमें 'काशकृत्स्ना'की जगह 'काशकृत्स्न',।'जयन्त्यष्टादि'के स्थानपर 'जयन्त्यष्टौ च' और 'कविकल्पद्रुमः'की जगह 'धातुपाठः' गलत छप गया है । इसी तरह पृ० ३की १८ वीं पंक्तिमें 'कवेः'की जगह 'कबेः', पृ० ८की २४ वीं पंक्तिमें 'सर्वथा'की जगह 'सर्व ।', पृ० ११के फुट नोटमें 'भावप्राभृत'की जगह 'मोक्षप्राभृत', पृ० १३की २२वीं पंक्तिमें 'आत्मदेहान्तर'की जगह 'आत्मदेहान्त' और पृ० १६की ३७ वीं पंक्तिमें 'उद्धृत'के स्थानपर 'उद्धत' अशुद्ध छप गया है । पाठकजन इन अशुद्धियोंको सुधार लेवें ।

समाधितंत्रकी विषयानुक्रमणिका

श्रीमद्देवनन्द्यपरनामपूज्यपादस्वामिविरचित—

समाधितंत्र

(टीकाद्वय-संयुक्त)

श्रीप्रभाचन्द्रविनिर्मितसंस्कृतटीका

(मंगलाचरण)

सिद्धं जिनेन्द्रमलमप्रतिमप्रबोधम् निर्वाणमार्गममलं विबुधेन्द्रवन्द्यम् ।
संसारसागरसमुत्तरणप्रपोतं वक्ष्ये समाधिशतकं प्रणिपत्य वीरम् ॥ १ ॥

श्रीपूज्यपादस्वामी मुमुक्षूणां मोक्षोपायं मोक्षस्वरूपं चोपदर्शयितुकामो निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकं फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेषं नमस्कुर्वन्नाह—

येनात्माऽबुध्यतात्मैव परत्वेनैव चापरम् ।
अक्षयानन्तबोधाय तस्मै सिद्धात्मने नमः ॥ १ ॥

श्री पं० परमानन्द शास्त्रीकृत सान्वयार्थ हिन्दी टीका

(मंगलाचरण)

सकल विभाव अभावकर, किया आत्मकल्यान ।
परमानन्द-सुबोधमय, नमूं सिद्ध भगवान ॥ १ ॥
आत्मसिद्धिके मार्गका, जिसमें सुभग विधान ।
उस समाधियुत तंत्रका, करूं सुगम व्याख्यान ॥ २ ॥

श्रीपूज्यपाद स्वामी मोक्षके इच्छुक भव्य जीवोंको मोक्षका उपाय और मोक्षके स्वरूपको दिखलानेकी इच्छासे शास्त्रकी निर्विघ्न परिसमाप्ति आदि फलकी इच्छा करते हुए इष्टदेवताविशेष श्रीसिद्ध परमेष्ठीको नमस्कार करते हैं।

अन्वयार्थ—(येन) जिसके द्वारा (आत्मा) आत्मा (आत्मा एव) आत्मा रूपसे ही (अबुध्यत) जाना गया है (च) और (अपरं) अन्यको-कर्म-

टीका—अत्र पूर्वार्द्धेन मोक्षोपाय उत्तरार्द्धेन च मोक्षस्वरूपमुपदर्शितम्। सिद्धात्मने सिद्धपरमेष्ठिने सिद्धः सकलकर्मविप्रमुक्तः स चासावात्मा च तस्मै नमः। येन किं कृतं। अबुद्ध्यत ज्ञातः। कोऽसौ ? आत्मा। कथं ? आत्मैव। अयमर्थः येन सिद्धात्मनाऽऽत्मैवाध्यात्मैवात्मत्वेनाबुद्ध्यत न शरीरादिकं कर्मोपादितसुरनरनारकतिर्यगादिजीवपर्यायादिकं वा। तथा परत्वेनैव चापरं अपरं च शरीरादिकं कर्मजनितमनुष्यादिजीवपर्यायादिकं वा परत्वेनैवात्मनोभेदेनैवाबुद्ध्यत्। तस्मै कथंभूताय ? अक्षयानन्तबोधाय अक्षयोऽविनश्वरोऽनन्तोदेशकालानवच्छिन्नस्समस्तार्थपरिच्छेदको वा बोधो यस्य तस्मै। एवंविधबोधस्य चानन्तदर्शनसुखवीर्यैरविनाभावित्वसामर्थ्यादनंतचतुष्टयरूपायेति गम्यते। ननु चेष्टदेवताविशेषस्य पञ्चपरमेष्ठिरूपत्वात्त-

---

जनित मनुष्यादिपर्यायरूप पुद्गलको (परत्वेन एव) पररूप से ही (अबुद्धयत) जाना गया है (तस्मै) उस (अक्षयानन्तबोधाय) अविनाशी अनन्तज्ञानस्वरूप (सिद्धात्मने) सिद्धात्मा को (नमः)नमस्कार हो।

भावार्थ—श्रीपूज्यपाद स्वामीने श्लोकके पूर्वार्द्धमें मोक्षका उपाय और उत्तरार्द्धमें मोक्षका स्वरूप बताया है तथा सिद्ध परमात्मारूप इष्टदेवताको नमस्कार किया है। यह जीव अनादिकालसे मोह मदिराका पान कर आत्माके निज चैतन्य स्वरूपको भूल रहा है, अचेतन विनाशीक परपदार्थोंमें आत्मबुद्धि कर रहा है, तथा चिरकालीन मिथ्यात्वरूप विपरीताभिनिवेशके सम्बन्धसे उन परपदार्थोंको अपना हितकारक समझना है और आत्माके उपकारी कर्मबन्धनके छुड़ानेमें निमित्तभूत ज्ञानवैराग्यादिक पदार्थोंको दुःखदायी समझना है। जैसे पित्तज्वर वाले रोगीको मीठा दूध कड़ुवा मालूम होता है, ठीक उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीवको आत्माका उपकारक मोक्षका उपाय भी विपरीत जान पड़ता है। संसारके समस्त जीव सुख चाहते हैं और दुःखसे डरते हैं तथा उस से छूटनेका उपाय भी करते हैं; परन्तु उस उपायके विपरीत होनेसे चतुर्गतिरूप संसारके दुःखसे उन्मुक्त नहीं हो पाते हैं। वास्तवमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रयकी एकता ही मोक्षकी

दत्र सिद्धात्मन एव कस्माद् ग्रन्थकृता नमस्कारः कृत इति चेत् ग्रन्थस्य कर्तु-र्व्याख्यातुः श्रोतुरनुष्ठातुश्च सिद्धस्वरूपप्राप्त्यर्थत्वात् । यो हि यत्प्राप्त्यर्थी स तं नमस्करोति यथा धनुर्वेदप्राप्त्यर्थी धनुर्वेदविदं नमस्करोति । सिद्धस्व-रूपप्राप्त्यर्थी च समाधिशतकशास्त्रस्यकर्ता व्याख्याता श्रोता तदर्थानुष्ठाता चात्मविशेषस्तस्मात्सिद्धात्मानं नमस्करोतीति । सिद्धशब्देनैव चार्हदादीनाम-पि ग्रहणम् । तेषामपि देशतः सिद्धस्वरूपोपेतत्वात् ।

प्राप्तिका परम उपाय है । इस रत्नत्रयकी परमप्रकर्षतासे ही कर्मोंका दृढ बन्धन आत्मासे छूट जाता है और आत्मा अपने स्वरूपको प्राप्त कर लेता है। ग्रन्थकारने ऐसा ही आशय प्रकट किया है।

जब यह आत्मा सुगुरुके उपदेशसे या तत्त्वनिर्णयरूप संस्कारसे आत्माके स्वरूपको विपरीत बनाने वाले दर्शनमोहनीय कर्मका उपश-मादि कर सम्यक्त्व प्राप्त करता है, उस समय आत्मामेंसे विपरीताभि-निवेशके सम्बंधसे होने वाली अचेतन-पर-पदार्थोंमें आत्मकल्पनारूप बुद्धि दूर हो जाती है। तभी मोक्षोपयोगी प्रयोजनभूत जीवादि सप्ततत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान व परिज्ञान होता है, और पर द्रव्योंसे उदासीन भाव-रूप चारित्र हो जाता है । इसलिये कर्मबंधनसे छूटनेका अमोघ उपाय आत्माको आत्मरूप ही, तथा आत्मासे भिन्न कर्मजनित शरीरादि पर-पदार्थोंको पररूप ही जानना या अनुभव करना है । पदार्थोंके यथार्थ श्रद्धान, ज्ञान और आचरणसे आत्मा कर्मोंके बंधनसे छूट जाता है, यही मोक्षकी प्राप्तिका उपाय है।

ज्ञानावरणादिक अष्ट कर्मोंसे रहित आत्माकी आत्यंतिक—अन्तमें होने वाली—अवस्थाका नाम मोक्ष है । आत्माकी यह अवस्था अत्यंत शुद्ध और स्वाभाविक होती है—रागादिक औपाधिक भावोंसे रहित है। अथवा यों कहिये कि जीवकी यह अवस्था नित्य निरंजन निर्विकार निराकुल एवं अबाधित सुखको लिये हुए शुद्ध चिद्रूपमय अवस्था है, जो कि सम्यक्त्वादि अनंत गुणोंका समुदाय है। इस अवस्थाको लिये हुए श्रीसिद्ध परमात्मा चरम शरीरसे किंचित् ऊन लोकके अग्रभागमें निवास करते हैं।

ग्रन्थकर्ता श्रीपूज्यपाद स्वामीने अविनाशी अनंत ज्ञान वाले सिद्ध

अथोक्तप्रकारसिद्धस्वरूपस्य तत्प्राप्त्युपायस्य चोपदेष्टारं सकलात्मानमिष्टदेवताविशेषं स्तोतुमाह—

जयन्ति यस्यावदतोऽपि भारती
विभूतयस्तीर्थकृतोप्यनीहितुः ।
शिवाय धात्रे सुगताय विष्णवे
जिनाय तस्मै सकलात्मने नमः ॥ २ ॥

टीका—यस्य भगवतो जयन्ति सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते । काः ? भारतीविभूतयः भारत्याः वाण्याः विभूतयो बोधितसर्वात्महितत्वादिसम्पदः । कथंभूतस्यापि जयन्ति ? अवदतोऽपि तात्वोष्ठपुटव्यापारेण वचनमनुच्चारयतो

परमात्माको नमस्कार किया है। इससे मालूम होता है कि ग्रन्थकर्ताको शुद्धात्माके प्राप्त करनेकी उत्कट अभिलाषा थी। जो जिस गुणकी प्राप्ति का इच्छुक होता है वह उस गुणसे युक्त पुरुषको नमस्कार करता है। जैसे धनुर्विद्याके सीखनेका अभिलाषी धनुर्वेदीको नमस्कार करता है। वास्तवमें पूर्णता और कृतकृत्यताकी दृष्टिसे परमदेवपना सिद्धोंमें ही है। इसीसे उक्त श्लोकमें अक्षय-अनन्त-ज्ञानादि-स्वरूप सिद्धपरमात्माको सर्वप्रथम नमस्कार किया गया है।

अब उक्त मोक्षस्वरूप और उसकी प्राप्तिके उपायका उपदेश करने वाले सकल परमात्माकी—जो अपने इष्ट देवता विशेष हैं उनकी—स्तुति करते हुए आचार्य कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यस्य) जिस (अनीहितुः अपि) इच्छासे भी रहित (तीर्थकृतः) तीर्थंकरकी (अवदतः अपि) न बोलते हुए भी—तालु-ओष्ठ-आदिके द्वारा शब्दोंका उच्चारण न करते हुए भी—(भारतीविभूतयः) वाणीरूपी विभूतियाँ—अथवा वाणी और छत्र त्रयादिक विभूतियां (जयन्ति) जयको प्राप्त होती हैं (तस्मै) उस (शिवाय)‡ शिव-

---

‡शिवं परमकल्याणं निर्वाणं शान्तमक्षयं ।
प्राप्तं मुक्तिपदं येन सः शिवः परिकीर्तितः ॥ —आप्तस्वरूपः

ऽपि । उक्तं च—"यत्सर्वात्महितं न वर्णसहितं न स्पंदितोष्ठद्वयं, नो वांछा-कलितं न दोषमलिनं न श्वासरुद्धक्रमं । शान्तामर्षविषैः समं पशुगणैराकर्णितं कर्णिभिः, तन्नः सर्वविदः प्रणष्टविपदः पायादपूर्वं वचः" ॥१॥ अथवा भारती च विभूतयश्च छत्रत्रयादयः । पुनरपि कथम्भूतस्य ? तीर्थकृतोऽप्य-

रूप-परम कल्याण अथवा परम सौख्यमय (धात्रे) विधाता अथवा ब्रह्म-रूप—सन्मार्गके उपदेश द्वारा लोकके उद्धारक (सुगताय) सुगतरूप—सद्बुद्धि एवं सद्गतिको प्राप्त (विष्णवे) विष्णुरूप—केवलज्ञानके द्वारा समस्त चराचर पदार्थोंमें व्याप्त होने वाले÷ (जिनाय) जिनरूप—संसारपरिभ्रमणके कारणभूत कर्मशत्रुओंको जीतने वाले× (सकलात्मने) सकलात्माको-सशरीर शुद्धात्मा अर्थात् जीवन्मुक्त अरहंत परमात्माको (नमः) नमस्कार हो।

भावार्थ—इस श्लोकमें आचार्य महोदयने जैन धर्मके अनुसार सकल परमात्मा श्रीअरहंत भगवानका संक्षिप्तस्वरूप बतलाया है। अरहंत परमात्माका शरीर परमौदारिक है, दिव्य है, ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय इन चार घातियाकर्मोंके विनाशसे उन्हें अनन्त चतुष्टय-रूप अंतरंग विभूतियाँ प्राप्त हैं तथा समवसरणादि बाह्य विभूतियाँ भी प्राप्त हैं; परन्तु वे उन बाह्य विभूतियोंसे अलिप्त रहते हैं। मोहनीयकर्मका अभाव होजानेसे इच्छाएँ अवशिष्ट नहीं रहतीं और इसलिये समवसरणमें बिना किसी इच्छाके तालु-ओष्ठ-आदिके व्यापारसे रहित अरहंत भगवानकी भव्य जीवोंका हित करने वाली धर्मदेशना हुआ करती है। समवसरण स्तोत्रमें भी कहा है कि—

'दुःखरहित सर्वज्ञकी वह अपूर्ववाणी हमारी रक्षा करे जो सबके लिये हित रूप है, वर्णरहित (निरक्षरी) है—होठोंका हलन-चलन व्यापार जिसमें नहीं होता, जो किसी प्रकारकी वांछाको लिये हुए नहीं है, न किसी दोषसे मलिन है, जिसके उच्चारणमें श्वासका रुकना नहीं होता और जिसे क्रोधादिविनिर्मुक्तों-साधुसन्तोंके साथ सकर्ण पशुओंने भी सुना है।'

÷ विश्वं हि द्रव्यपर्यायं विश्वं त्रैलोक्यगोचरम् ।
व्याप्तं ज्ञानत्विषा येन स विष्णुर्व्यापको जगत् ॥ ३ ॥
× रागद्वेषादयो येन जिताः कर्ममहाभटाः ।
कालचक्रविनिर्मुक्तं स जिनः परिकीर्तितः ॥ २१ ॥—आप्तस्वरूप

नीहितुः इहा वाञ्छा मोहनीयकर्मकार्यं, भगवति च तत्कर्मणः प्रक्षयात्तस्याः सद्भावानुपपत्तिरतोऽनीहितुरपि तत्कारणेच्छारहितस्यापि, तीर्थकृतः संसारोत्तरणहेतुभूतत्वात्तीर्थमिव तीर्थमागमः तत्कृतवतः। किं नाम्ने तस्मै सकलात्मने ? शिवाय शिवं परमसौख्यं परमकल्याणं निर्वाणं चोच्यते तत्प्राप्ताय। धात्रे असिमषिकृष्यादिभिः सन्मार्गोपदेशकत्वेन च सकललोकाभ्युद्धारकाय। सुगताय शोभनं गतं ज्ञानं यस्यासौ सुगतः, सुष्ठु वा अपुनरावर्त्यगतिं गतं, सम्पूर्णं वा अनन्तचतुष्टयं गतः प्राप्तः सुगतस्तस्मै। विष्णवे केवलज्ञानेनाशेषवस्तुव्यापकाय। जिनाय अनेकभवगहनप्रापणहेतून् कर्मारातीन् जयतीति जिनस्तस्मै। सकलात्मने सह कलया शरीरेण वर्तत इति सकलः सचासावात्मा च तस्मै नमः। २।

ननु निष्कलेतररूपमात्मानं नत्वा भवान् किं करिष्यतीत्याह—

श्रुतेन लिंगेन यथात्मशक्ति
समाहितान्तःकरणेन सम्यक्।

इस श्लोककी टीकामें सकलपरमात्मा श्रीअरहंतके विशेषणोंका खुलासा किया गया है और उसके द्वारा यह सूचित किया है कि घातिया कर्मरूपी शत्रुओंको जीतनेवाले, रागादि अष्टादश दोषोंसे रहित, परमवीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी अरहंत ही सच्चे शिव हैं, महादेव हैं, विधाता हैं, विष्णु हैं, सुगत हैं—अन्यमतावलम्बियोंने शिवादिकका जैसा स्वरूप बताया है उससे वे वास्तविक शिव या अरहंत नहीं हो सकते हैं; क्योंकि उस स्वरूपानुसार उनके राग, द्वेष और मोहादिक दोषोंका सद्भाव पाया जाता है। ॥ २ ॥

अब ग्रन्थकार ग्रन्थके प्रतिपाद्य विषयको बतलाते हुए कहते हैं :—

अन्वयार्थ—(अथ) परमात्मा को नमस्कार करनेके अनंतर [अहं] मैं पूज्यपाद आचार्य (विविक्तं आत्मानं) कर्ममल रहित आत्माके शुद्धस्वरूपको (श्रुतेन) शास्त्रके द्वारा (लिंगेन) अनुमान व हेतुके द्वारा (समाहितान्तःकरणेन) एकाग्र मनके द्वारा (सम्यक् समीक्ष्य) अच्छी तरह अनुभव करके (कैवल्य-सुखस्पृहाणां) कैवल्यपद-विषयक अथवा निर्मल अतीन्द्रिय

समीक्ष्य कैवल्यसुखस्पृहाणां
विविक्तमात्मनमथाभिधास्ये ॥ ३ ॥

टीका—अथ इष्टदेवतानमस्कारकरणानन्तरं। अभिधास्ये कथयिष्ये। कं? विविक्तमात्मानं कर्ममलरहितं जीवस्वरूपं। कथमभिधास्ये? यथात्मशक्ति आत्मशक्तेरनतिक्रमेण। किं कृत्वा? समीक्ष्य तथाभूतमात्मानं सम्यग्ज्ञात्वा। केन? श्रुतेन—"एगो मे सासओ आदा णाणदंसणलक्खणो। सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा" इत्याद्यागमेन। तथा लिंगेन हेतुना। तथा हि—शरीरादिरात्मभिन्नोभिन्नलक्षणलक्षितत्वात्। ययोर्भिन्नलक्षणलक्षितत्वं तयोर्भेदो यथाजलानयोः। भिन्नलक्षणलक्षितत्वं चात्मशरीरयोरिति। न चानयोर्भिन्नलक्षणलक्षितत्वमप्रसिद्धम्। आत्मनः उपयोगस्वरूपोपलक्षितत्वात्—शरीरादेस्तद्विपरीतत्वात्। समाहितान्तःकरणेन समाहितमेकाग्रीभूतं तच्च तदन्तःकरणं च मनस्तेन। सम्यक्—समीक्ष्य सम्यग्ज्ञात्वा अनुभूयेत्यर्थः। केषां तथाभूतमात्मानमभिधास्ये?

सुखकी इच्छा रखने वालोंके लिये (यथात्मशक्ति) अपनी शक्तिके अनुसार (अभिधास्ये) कहूंगा।

भावार्थ—यहां पर उस शुद्धात्म स्वरूपके प्रतिपादनकी प्रतिज्ञा कीगई है जिसे ग्रंथकारने शास्त्रज्ञानसे, अनुमानसे और अपने चित्तकी एकाग्रतासे भले प्रकार जाना तथा अनुभव किया है। साथ ही, यह भी बतलाया है कि यह ग्रन्थ उन भव्य पुरुषोंको लक्ष्य करके लिखा जाता है जिन्हें कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न होने वाले बाधा-रहित, निर्मल, अतीन्द्रिय सुखको प्राप्त करनेकी इच्छा है। शास्त्रसे—समयसारादि जैनागम ग्रन्थोंसे मालूम होता है कि आत्मा एक है, नित्य है, ज्ञानदर्शन-लक्षणवाला है (ज्ञाता-द्रष्टा है) और शेष संयोग-लक्षण वाले समस्त पदार्थ मेरी आत्मासे बाह्य हैं—मैं उनका नहीं हूँ और न वे मेरे हैं। अनुमानसे जाना जाता है कि शरीर और आत्मा जुदे जुदे हैं; क्योंकि इन दोनोंका लक्षण भी भिन्न भिन्न है। जिनका लक्षण भिन्न भिन्न होता है वे सब भिन्न होते हैं; जैसे जल और आग। इस

कैवल्यसुखस्पृहाणां कैवल्ये सकलकर्मरहितत्त्वे सति सुखं तत्र स्पृहा अभिलाषो येषां, कैवल्ये विषयाप्रभवे वा सुखे ; कैवल्यसुखयोः स्पृहा येषाम ॥३॥

कतिभेदः पुनरात्मा भवति ? येन विविक्तमात्मानमिति विशेष उच्यते। तत्र कुतः कस्योपादानं कस्य वा कर्तव्य इत्याशंक्याह—

***बहिरन्तः परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु ।**
उपेयात्तत्र परमं मध्योपायाद्बहिस्त्यजेत् ॥ ४ ॥

टीका—बहिर्बहिरात्मा, अन्तः अन्तरात्मा, परश्च परमात्मा इति त्रिधा आत्मा त्रिप्रकार आत्मा। क्व ? सर्वदेहिषु सकलप्राणिषु । ननु अभव्येषु बहिरात्मन एव सम्भवात् कथं सर्वदेहिषु त्रिधात्मा स्यात् ? इत्यप्यनुपपन्नं, तत्रापि द्रव्यरूपतया त्रिधात्मसद्भावोपपत्तेः। कथं पुनस्तत्र पंचज्ञानावरणान्युपपद्यन्ते ? केवलज्ञानाद्याविर्भावसामग्री हि तत्र कदापि न भविष्यतीत्यभव्यत्वं, न पुनः तद्योगद्रव्यस्याभावादिति। भव्यराश्यपेक्षया वा सर्वदेहिग्रहणं। आसन्नदूरदूरतरभव्येषु अभव्यसमानभव्येषु च सर्वेषु त्रिधाऽऽ

तरह आगम और अनुमानके सहयोगके साथ चित्तकी एकाग्रतापूर्वक आत्माका जो साक्षात् अनुभव होता है वह तीसरी चीज़ है। इन तीनोंके आधारपर ही इस ग्रन्थके रचनेकी प्रतिज्ञा की गई है ॥ ३ ॥

आत्मा कितने तरहका होता है, जिससे शुद्धात्मा ऐसा विशेष कहा जाता है ? और उन आत्माके भेदोंमें किसका ग्रहण और किसका त्याग करना चाहिये ? ऐसी आशंका दूर करने के लिये आत्मा के भेदों का कथन करते हैं :—

अन्वयार्थ—(सर्वदेहिषु) सर्व प्राणियों में (बहिः) बहिरात्मा (अन्तः) अन्तरात्मा (च परः) और परमात्मा (इति) इस तरह (त्रिधा) तीनप्रकारका (आत्मा) आत्मा [अस्ति] है। (तत्र) आत्माके उन तीन भेदोंमेंसे [मध्योपायात्] अन्तरात्माके उपायद्वारा [परमं] परमात्माको [उपेयात्]

---

* "तिपयारो सो अप्पा परमंतरबाहिरो हु देहीणं।
तत्थ परो झाइज्जइ अंतोवाएण चयहि बहिरप्पा ॥
— मोक्षप्राभृते, कुन्दकुन्दः ।

त्मा विद्यत इति । तर्हि सर्वज्ञे परमात्मन एव सद्भावाद् बहिरन्तरात्मनोर-भावात्त्रिधात्मनो विरोध इत्यप्ययुक्तम् । भूतपूर्वप्रज्ञापन-नयापेक्षया तत्र तद्विरोधासिद्धेः घृतघटवत् । यो हि सर्वज्ञावस्थायां परमात्मा सम्पन्नः स पूर्वंब-हिरात्मा अन्तरात्मा चासीदिति । घृतघटवदन्तरात्मनोऽपि बहिरात्मत्वं परमा-त्मत्वं च भूतभाविप्रज्ञापन-नयापेक्षया द्रष्टव्यम् । तत्र कुतः कस्योपादानं कस्य

अंगीकार करे–अपनावे और [बहिः] बहिरात्माको [त्यजेत्] छोड़े ।

भावार्थ—आत्माकी तीन अवस्थाएँ होती हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा । उनमेंसे जब तक प्रत्येक संसारी जीवकी अचेतन पुद्गल-पिंडरूप शरीरादि विनाशीक पदार्थों में आत्मबुद्धि रहती है या आत्मा जब तक मिथ्यात्व-अवस्थामें रहता है तब तक वह 'बहिरात्मा' कहलाता है । शरीरादिमें आत्मबुद्धिका त्याग एवं मिथ्यात्वका विनाश होने पर जब आत्मा सम्यग्दृष्टि हो जाता है तब उसे 'अन्तरात्मा' कहते हैं । उसके तीन भेद हैं—उत्तम अन्तरात्मा, मध्यम अन्तरात्मा और जघन्य अन्तरात्मा । अन्तरंग-बहिरंग-परिग्रह का त्याग करने वाले, विषय-कषायोंको जीतने वाले और शुद्ध उपयोगमें लीन होने वाले तत्त्वज्ञानी योगीश्वर 'उत्तम अन्तरात्मा' कहलाते हैं; देशव्रतका पालन करने वाले गृहस्थ तथा छट्ठे गुणस्थानवर्ती मुनि 'मध्यम अन्तरात्मा' कहे जाते हैं और तत्त्वश्रद्धा के साथ व्रतों को न रखने वाले अविरत सम्यग्दृष्टि जीव 'जघन्य अन्तरात्मा' रूपसे निर्दिष्ट हैं ।

आत्मगुणोंके घातक ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय नामक चार घातिया कर्मोंका नाश करके आत्माकी अनन्त चतुष्टयरूप शक्तियोंको पूर्ण विकसित करने वाले 'परमात्मा' कहलाते हैं । अथवा आत्मा की परम विशुद्ध अवस्था को 'परमात्मा' कहते हैं । यदि कोई कहे कि अभव्योंमें तो एक बहिरात्मावस्था ही संभव है, फिर सर्व प्राणियोंमें आत्माके तीन भेद कैसे बन सकते हैं ? यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि अभव्य जीवोंमें भी अन्तरात्मावस्था और परमात्मावस्था शक्तिरूपसे ज़रूर है; परन्तु उक्त दोनों अवस्थाओंके व्यक्त होनेकी उनमें योग्यता नहीं है । । यदि ऐसा न माना जाय तो अभव्योंमें केवलज्ञानावरणीय कर्मका बन्ध व्यर्थ ठहरेगा । इस लिये चाहे निकट भव्य हो, दूरान्दूर भव्य हो

वा त्यागः कर्तव्य इत्याह—उपेयादिति । तत्र तेषु त्रिधात्मसु मध्ये उपेयात् स्वीकुर्यात् । परमं परमात्मानं । कस्मात् ? मध्योपायात् मध्योऽन्तरात्मा स एवोपायस्तस्मात् । तथा बहिः बहिरात्मानं मध्योपायादेव त्यजेत् ॥ ४ ॥

तत्र बहिरन्तःपरमात्मनां प्रत्येकं लक्षणमाह—

* **बहिरात्मा शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिरान्तरः ।**
चित्तदोषात्मविभ्रान्तिः परमात्माऽतिनिर्मलः ॥ ५ ॥

टीका—शरीरादौ शरीरे आदिशब्दाद्वाङ्मनसोरेव ग्रहणं तत्र जाता

अथवा अभव्य हो सबमें तीन प्रकारका आत्मा मौजूद है। सर्वज्ञमें भी भूतप्रज्ञापन नयकी अपेक्षा घृत-घटके समान बहिरात्मावस्था और अन्तरात्मावस्था सिद्ध है।

आत्माकी इन तीन अवस्थाओंमेंसे जिनकी परद्रव्यमें आत्मबुद्धिरूप बहिरात्मावस्था हो रही है उनको प्रथम ही सम्यक्त्व प्राप्त कर उस विपरीताभिनिवेशमय बहिरात्मावस्थाको छोड़ना चाहिये और मोक्षमार्गकी साधक अन्तरात्मावस्थामें स्थिर होकर आत्माकी स्वाभाविक वीतरागमयी परमात्मावस्थाको व्यक्त करनेका उपाय करना चाहिये ॥ ४ ॥

अब बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मामेंसे प्रत्येकका लक्षण कहते हैं—

अन्वयार्थ—(शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिः बहिरात्मा) शरीरदिकमें आत्मभ्रान्तिको धरनेवाला—उन्हें भ्रमसे आत्मा समझनेवाला—बहिरात्मा है। (चित्तदोषात्मविभ्रान्तिः आन्तरः) चित्तके, रागद्वेषादिक दोषोंके और आत्माके विषयमें अभ्रान्त रहनेवाला—उनका ठीक विवेक रखनेवाला अर्थात् चित्तको चित्तरूपसे, दोषोंको दोषरूपसे और आत्माको आत्मारूपसे अनुभव करनेवाला—अन्तरात्मा कहलाता है। (अतिनिर्मलः परमात्मा) सर्व कर्ममलसे रहित जो अत्यन्त निर्मल है वह परमात्मा है।

भावार्थ—मोक्षमार्गमें प्रयोजनभूत तत्त्वोंका जैसा स्वरूप जिनेन्द्र-

---

* 'अक्खाणि बाहिरप्पा अंतरप्पा हु अप्पसंकप्पो ।
कम्मकलंकविमुक्को परमप्पा भण्णए देवो ॥ ५ ॥
—मोक्षप्राभृते, कुन्दकुन्दः ।

आत्मेति भ्रान्तिर्यस्य स बहिरात्मा भवति। आन्तरः अन्तर्भवः । तत्र भव इत्यण्-प्रेभमात्रे टि लोपमित्यस्य नित्यत्वं येषां च विरोधः शाश्वतिक इति निर्देशात् अन्तरे वा भव आन्तरोऽन्तरात्मा । स कथं भूतो भवति ? चित्तदोषात्मवि-भ्रान्तिः चित्तं च विकल्पो, दोषाश्च रागादयः, आत्मा च शुद्धं चेतनाद्रव्यं तेषु विगता विनष्टा भ्रान्तिर्यस्य । चित्तं चित्तत्वेन बुध्यते दोषाश्च दोषत्वेन आत्मा आत्मत्वेनेत्यर्थः । चित्तदोषेषु वा विगता आत्मेति भ्रान्तिर्यस्य । परमात्मा भवति किं विशिष्टः ? अतिनिर्मलः प्रक्षीणाशेषकर्मफलः ॥ ५ ॥

देवने बताया है उसको वैसा न माननेवाला बहिरात्मा अथवा मिथ्या-दृष्टि कहलाता है। दर्शनमोहके उदयसे जीवमें अजीवकी कल्पना और अजीवमें जीवकी कल्पना होती है, दुःखदाई रागद्वेषादिक विभाव भावों-को सुखदाई समझ लिया जाता है, आत्माके हितकारी ज्ञान वैराग्यादि पदार्थोंको अहितकारी जानकर उनमें अरुचि अथवा द्वेषरूप प्रवृत्ति होता है और कर्मबंधके शुभाशुभ फलोंमें राग, द्वेष होनेसे उन्हें अच्छे बुरे मान लिया जाता है। साथही, इच्छाएँ बलवती होती जाती हैं, विषयोंकी चाहरूप दावानलमें जीव रातदिन जलता रहता है। इसी लिये आत्मशक्ति-को खोदेता है और आकुलतारहित मोक्ष सुखके खोजने अथवा प्राप्त करनेका कोई प्रयत्न नहीं करता। इस प्रकार जातितत्त्व और पर्याय-तत्त्वोंका यथार्थ परिज्ञान न रखनेवाला जीव मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा है। चैतन्यलक्षणवाला जीव है, इससे विपरीत लक्षणवाला अजीव है, आत्माका स्वभाव ज्ञाता-द्रष्टा है, अमूर्तिक है और ये शरीरादिक परद्रव्य हैं, पुद्गलके पिंड हैं, विनाशीक हैं, जड़ हैं मेरे नहीं हैं और न मैं इनका हूँ, ऐसा भेदविज्ञान करनेवाला सम्यग्दृष्टि 'अन्तरात्मा' कहलाता है। अत्यन्त विशुद्ध आत्माको 'परमात्मा' कहते हैं। परमात्माके दो भेद हैं—एक सकलपरमात्मा दूसरा निष्कलपरमात्मा । जो चार घातिया कर्म मलसे रहित होकर अनन्तज्ञानादि चतुष्टयरूप अन्तरंगलक्ष्मी और सम-वसरणादिरूप बाह्यलक्ष्मीको प्राप्त हुए हैं उन सर्वज्ञ वीतराग परमहितोप-देशी आत्माओंको 'सकलपरमात्मा' या 'अरहंत' कहते हैं। और जिन्होंने सम्पूर्ण कर्ममलोंका नाश कर दिया है, जो लोकके अग्रभागमें स्थित हैं, निजानन्द-निर्भर निजरसका पान किया करते हैं तथा अनन्तकाल तक

तद्वाचिकां नाममालां दर्शयन्नाह—

* निर्मलः केवलः शुद्धो विविक्तः प्रभुरव्ययः ।
परमेष्ठी परात्मेति परमात्मेश्वरो जिनः ॥ ६ ॥

टीका—निर्मलः कर्ममलरहितः । केवलः शरीरादीनां सम्बन्धरहितः । शुद्धः द्रव्यभावकर्मणामभावात् परमविशुद्धिसमन्वितः । विविक्तः शरीरकर्मादिभिरसंस्पृष्टः । प्रभुरिन्द्रादीनां स्वामी । अव्ययो लब्धानंतचतुष्टयस्वरूपादप्रच्युतः । परमेष्ठी परमे इन्द्रादिवंद्ये पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी स्थानशीलः । परात्मा संसारिजीवेभ्य उत्कृष्ट आत्मा । इति शब्दः प्रकारार्थे । एवंप्रकारा ये शब्दास्ते परमात्मनो वाचकाः । परमात्मेत्यादिना तानेव दर्शयति । परमात्मा सकलप्राणिभ्य उत्तम आत्मा । ईश्वर इंद्राद्यसम्भविना अन्तरङ्गबहिरङ्गेण परमैश्वर्येण सदैव सम्पन्नः । जिनः सकलकर्मोन्मूलकः । ६ ।

आत्मोत्थ स्वाधीन निराकुल सुखका अनुभव करते हैं उन कृतकृत्योंको 'निष्कलपरमात्मा' या 'सिद्ध' कहते हैं ॥ ५ ॥

अब परमात्माके वाचक अन्य प्रसिद्ध नाम बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(निर्मलः) निर्मल—कर्मरूपी मलसे रहित (केवलः) केवल—शरीरादिपरद्रव्यके सम्बन्धसे रहित (शुद्धः) शुद्ध—द्रव्य और भावकर्मसे रहित होकर परमविशुद्धिको प्राप्त (विविक्तः) विविक्त—शरीर और कर्मादिके स्पर्शसे रहित (प्रभुः) प्रभु—इन्द्रादिकोंका स्वामी (अव्ययः) अव्यय—अपने अनंत चतुष्टयरूप स्वभावसे च्युत न होने वाला (परमेष्ठी) परमपदमें स्थिर (परात्मा) परात्मा—संसारी जीवोंसे उत्कृष्ट आत्मा (ईश्वरः) ईश्वर—अन्यजीवोंमें असम्भव ऐसी विभूतिका धारक और (जिनः) जिन—ज्ञानावरणादि सम्पूर्ण कर्म शत्रुओंका जीतने वाला (इतिपरमात्मा) ये परमात्माके नाम हैं ।

भावार्थ—आत्मा अनंत गुणोंका पिण्ड है । परमात्मामें उन सब गुणोंके पूर्ण विकसित होनेसे परमात्माके उन गुणोंकी अपेक्षा अनन्त नाम हैं । इसीसे परमात्माको अजर, अमर, अक्षय, अरोग, अभय, अविकार,

इदानीं बहिरात्मनो देहस्यात्मत्वेनाध्यवसाये कारणमुपदर्शयन्नाह—

*बहिरात्मेन्द्रियद्वारैरात्मज्ञानपराङ्मुखः ।
स्फुरितःस्वात्मनो × देहमात्मत्वेनाध्यवस्यति ॥७॥

टीका—इन्द्रियद्वारैरिन्द्रियमुखैः कृत्वा स्फुरितो बहिरर्थग्रहणे व्यापृतः सन बहिरात्मा मूढात्मा । आत्मज्ञानपराङ्मुखो जीवस्वरूपज्ञानाद्बहिर्भूतो भवति । तथाभूतश्च सन्नसौ किं करोति ? स्वात्मनो देहमात्मत्वेनाध्यवस्यति आत्मीयशरीरमेवाहमिति प्रतिपद्यते ॥ ७ ॥

अज, अकलंक, अशंक, निरंजन, सर्वज्ञ, वीतराग, परमज्योति, बुद्ध, आनंदकन्द, शास्ता, और विधाता जैसे नामोंसे भी उल्लेखित किया जाता है । ६ ।

अब यह दिखलाते हैं कि बहिरात्मा के देह में आत्मत्व बुद्धि होनेका क्या कारण है—

अन्वयार्थ—[यतः] चूंकि (बहिरात्मा) बहिरात्मा (इन्द्रियद्वारः) इन्द्रियद्वारोंसे (स्फुरितः) बाह्य पदार्थोंके ग्रहण करनेमें प्रवृत्त हुआ (आत्मज्ञानपराङ्मुखः) आत्मज्ञानसे पराङ्मुख [भवति, ततः] होता है इस लिये (आत्मनः देहं) अपने शरीरको (आत्मत्वेन अध्यवस्यति) आत्मरूपसे निश्चय करता है—अपना आत्मा समझता है ।

भावार्थ—मोहके उदयसे बुद्धिका विपरीतपरिणमन होता है । इसी कारण बहिरात्मा इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहणमें आने वाले बाह्य मूर्तिक पदार्थोंको ही अपने मानता है । उसे अभ्यन्तर आत्मतत्त्वका कुछ भी ज्ञान या प्रतिभास नहीं होता है। जिस प्रकार धतूरेका पान करने वाले पुरुषको सब पदार्थ पीले मालूम पड़ते हैं, ठीक उसी प्रकार मोहके उदयसे उन्मत्त हुए जीवोंको अचेतन शरीरादि परपदार्थ भी चेतन और स्वकीय जान पड़ते हैं । इसी दृष्टिविकारसे आत्माको अपने वास्तविक स्वरूपका परिज्ञान नहीं होपाता, और इसलिये यह जीवात्मा शरीरकी उत्पत्तिसे अपनी उत्पत्ति और शरीरके विनाशसे अपना विनाश समझता है ॥ ७ ॥

---

* बहिरत्थे फुरियमणो इंदियदारेण णियसरूवचओ ।
णियदेहं अप्पाणं अज्झवसदि मूढदिट्ठीओ ॥८॥”

—मोक्षप्राभृते कुन्दकुन्दः ।

× “स्फुरितश्चात्मनोदेहं” इत्यपिपाठान्तरं ।

तच्च प्रतिपद्यमानो मनुष्यादिचतुर्गतिसम्बन्धिशरीरभेदेन प्रतिपद्यते तत्र—

*नरदेहस्थमात्मानमविद्वान् मन्यते नरम ।
तिर्यंचं तिर्यगङ्गस्थं सुराङ्गस्थं सुरं तथा ॥ ८ ॥
नारकं नारकाङ्गस्थं न स्वयं तत्वतस्तथा ।
अनंतानंतधीशक्तिः स्वसंवेद्योऽचलस्थितिः ॥ ९ ॥

टीका—नरस्य देहो नरदेहः तत्र तिष्ठतीति नरदेहस्थस्तमात्मानं नरं विमन्यते। कोऽसौ ? अविद्वान् बहिरात्मा। तिर्यंचमात्मानं मन्यते । कथंभूतं ? तिर्यगङ्गस्थं तिरश्चामङ्गं तिर्यगङ्गं तत्र तिष्ठतीति तिर्यगङ्गस्थस्तं । सुराङ्गस्थं सुरं तथा मन्यते ॥ ८ ॥ नारकमात्मानं मन्यते । किं विशिष्टं ? नारकाङ्गस्थं। न स्वयं तथा नरादिरूप आत्मा स्वयं कर्मोपाधिमंतरेण न भवति । कथं ? तत्वतः परमार्थतो न भवति । व्यवहारेण तु यदा भवति तदा

इसी बातको स्पष्ट करते हुए मनुष्यादिचतुर्गतिसम्बन्धी शरीरभेद-से जीवभेदकी मान्यताको बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(अविद्वान्)मूढ बहिरात्मा (नरदेहस्थं) मनुष्यदेह में स्थित (आत्मानं) आत्माको (नरम्) मनुष्य, (तिर्यगङ्गस्थं) तिर्यंच शरीरमें स्थित आत्माको (तिर्यञ्चं) तिर्यंच (सुराङ्गस्थं) देवशरीरमें स्थित आत्माको (सुरं) देव (तथा) और (नारकाङ्गस्थं) नारकशरीरमें स्थित आत्माको (नारकं) नारकी(मन्यते) मानता है। किन्तु (तत्वतः) वास्तवमें—शुद्ध निश्चयकी दृष्टिसे (स्वयं) कर्मोपाधिसे रहित खुद आत्मा (तथा न) मनुष्य, तिर्यंच, देव और नारकीयरूप नहीं है (तत्वतस्तु) निश्चय नयसे तो यह आत्मा

---

* 'सुरं त्रिदशपर्यायै नृपर्यायैस्तथानरम् ।
तिर्यञ्चं च तदङ्गे स्वं नारकाङ्गे च नारकम् ॥३२-१३॥
वेत्यविद्यापरिश्रान्तो मूढस्तत्र पुनस्तथा ।
किन्त्वमूर्तं स्वसंवेद्यं तद्रूपं परिकीर्तितम् ॥—१४॥"
—ज्ञानार्णवे,शुभचन्द्रः

भवतु । कर्मोपाधिकृता हि जीवस्य मनुष्यादिपर्यायास्तन्निवृत्तौ निवर्तमानत्वात् न वास्तवा इत्यर्थः । परमार्थतस्तर्हि कीदृशोऽसावित्याह—अनन्तानन्तधीशक्तिः धीश्च शक्तिश्च धीशक्ती अनन्तानन्ते धीशक्ती यस्य । तथाभूतोऽसौ कुतः परिच्छेद्य इत्याह—स्वसंवेद्यो निरुपाधिकं हि रूपं वस्तुनः स्वभावोऽभिधीयते । कर्माद्यपाये चानन्तानन्तधीशक्तिपरिणत आत्मा स्वसंवेदनेनैव वेद्यः । तद्विपरीतपरिणत्यनुभवस्य संसारावस्थायां कर्मोपाधिनिर्मितत्वात् । अस्तु नाम तथा स्वसंवेद्यः कियत्कालमसौ न तु सर्वदा । पश्चात् तद्रूपविनाशादित्याह—अचलस्थितिः अनंतानंतधीशक्तिस्वभावेनाचलास्थितिर्यस्य सः । यैः पुनर्योगसांख्यैर्मुक्तौ तत्प्रच्युतिरात्मनोऽभ्युपगता ते प्रमेयकमलमार्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे च मोक्षविचारे विस्तरतः प्रत्याख्याताः ॥ ६ ॥

(अनंतानंतधीशक्तिः) अनन्तानन्तज्ञान और अनन्तानन्तशक्तिरूप वीर्यधारक है (स्वसंवेद्यः) स्वानुभवगम्य है—अपने द्वारा आप अनुभव किये जाने योग्य है और (अचलस्थितिः) अपने उक्त स्वभावसे कभी च्युत न होने वाला—उसमें सदा स्थिर रहने वाला है ।

भावार्थ—यह अज्ञानी आत्मा कर्मोदयसे होने वाली नर-नारकादि पर्यायोंको ही अपनी सच्ची अवस्था मानता है । उसे ऐसा भेदविज्ञान नहीं होता कि मेरा स्वरूप इन दृश्यमान पर्यायोंसे सर्वथा भिन्न है । भले ही इन पर्यायोंमें यह मनुष्य है, यह पशु है इत्यादि व्यवहार होता है; परन्तु ये सब अवस्थाएँ कर्मोदयजन्य हैं, जड़ हैं और आत्माका वास्तविक स्वरूप इनसे भिन्न कर्मोपाधिसे रहित शुद्ध चैतन्यमयटंकोत्कीर्ण एक ज्ञाता द्रष्टा है, अभेद्य है, अनन्तानन्तशक्तिको लिये हुए है, ऐसा विवेक ज्ञान उसको नहीं होता । इसी कारण संसारके परपदार्थोंमें व मनुष्यादि पर्यायोंमें अहंबुद्धि करता है, उनको आत्मा मानता है और सांसारिक विषय सामग्रियोंके संचय करने एवं उनके उपभोग करनेमें ही लगा रहता है । साथ ही, उनके संयोग-वियोगमें हर्ष-विषाद करता रहता है । परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव भेद-विज्ञानी होता है, वह इन पर्यायोंको कर्मोदयजन्य मानता है और आत्माके चैतन्यस्वरूपका निरन्तर अनुभव करता रहता है तथा परपदार्थोंको अपनी आत्मासे भिन्न जड़रूप ही निश्चय करता है । इसी कारण पंचेन्द्रियोंके विषयमें उसे गृद्धता नहीं

स्वदेहे एवमध्यवसायं कुर्वाणो बहिरात्मा परदेहे कथंभूतं करोतीत्याह—

***स्वदेहसदृशं दृष्ट्वा परदेहमचेतनम् ।**
परात्माधिष्ठितं मूढः परत्वेनाध्यवस्यति ॥ १० ॥

टीका—व्यापार-व्याहाराकारादिना स्वदेहसदृशं परदेहं दृष्ट्वा । कथम्भूतं ? परात्माधिष्ठितं कर्मवशात्स्वीकृतं अचेतनं चेतनेनासंगतं । मूढो बहिरात्मा परत्वेन परात्मत्वेन अध्यवस्यति ॥ १० ॥

होता और न वह इष्टवियोग-अनिष्टसंयोगादिमें दुखी ही होता है। इसलिये आत्महितैषियोंको चाहिये कि बहिरात्मावस्थाको अत्यन्त हेय समझकर छोड़ें और सम्यग्दृष्टि अंतरात्मा होकर समीचीन मोक्षमार्गका साधन करें ॥ ८-९ ॥

अपने शरीरमें ऐसी मान्यता रखने वाला बहिरात्मा दूसरेके शरीरमें कैसी बुद्धि रखता है, इसे आगे बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(मूढः) अज्ञानी बहिरात्मा (परात्माधिष्ठितं) अन्यकी आत्मासहित (अचेतनं) चेतनारहित (परदेहं) दूसरेके शरीरको (स्वदेहसदृशं) अपने शरीरके समान इन्द्रियव्यापार तथा वचनादि व्यवहार करता हुआ (दृष्ट्वा) देखकर (परत्वेन) परका आत्मा (अध्यवस्यति) मान लेता है।

भावार्थ—अज्ञानी बहिरात्मा जैसे अपने शरीरको अपना आत्मा समझता है उसी प्रकार स्त्री-पुत्र-मित्रादिके अचेतन शरीरको स्त्री-पुत्र-मित्रादिका आत्मा समझता है और अपने शरीरके विनाशसे जैसे अपना विनाश समझता है ठीक उसी प्रकार उनके शरीरके विनाशसे उनका विनाश मानता है, अपनेलिये जैसे सांसारिक वैषयिक सुखोंको हितकारी समझता है, दूसरोंकेलिये भी उन्हें हितकारी मानता है; सांसारिक सम्पत्तियोंके समागममें सुखकी कल्पना करता है और उनकी अप्राप्तिमें

---

* 'णियदेहसरित्थं पिच्छिऊण परविग्गहं पयत्तेण ।
अच्चेयणं पि गहियं झाइज्ज परमभाएण ॥९॥
—मोक्षप्राभृते,कुन्दकुन्दः ।

स्वशरीरमिवान्विष्य पराङ्गं च्युतचेतनम् ।
परमात्मानमज्ञानी परबुद्धयाऽध्यवस्यति ॥३२-१५॥
—ज्ञानार्णवे, शुभचन्द्रः

एवंविधाध्यवसायात्किं करोतीत्याह—

***स्वपराध्यवसायेन देहेष्वविदितात्मनाम् ।**
वर्तते विभ्रमः पुंसां पुत्रभार्यादिगोचरः ॥ ११ ॥

टीका—विभ्रमो विपर्यासः पुंसां वर्तते । किं विशिष्टानां ? अविदितात्मनां अपरिज्ञातात्मस्वरूपानां । केन कृत्वा ऽसौ वर्तते ? स्वपराध्यवसायेन । क ? देहेषु । कथम्भूतो विभ्रमः ? पुत्रभार्यादिगोचरः परमार्थतोऽनात्मीयमनुपकारकमपि पुत्रभार्याधनधान्यादिकमात्मीयमुपकारकं च मन्यते । तत्सम्पत्तौ संतोषं तद्वियोगे च महासन्तापमात्मवधादिकं च करोति ॥ ११ ॥

दुःखका अनुभव, अपने स्वार्थके साधकोंपर प्रेम करता है और जिनसे अपना कुछ भी लौकिक प्रयोजन सिद्ध नहीं होता उनसे द्वेषबुद्धि रखता है । इस प्रकार बहिरात्माकी शरीरमें आत्मबुद्धि रहती है ॥ १० ॥

इस प्रकारकी मान्यतासे बहिरात्माकी परिणति किस रूप होती है उसे दिखाते हैं—

अन्वयार्थ—(अविदितात्मनां पुंसां) आत्माके स्वरूपको नहीं जानने वाले पुरुषोंके (देहेषु) शरीरोंमें (स्वपराध्यवसायेन) अपनी और परकी आत्ममान्यतासे (पुत्रभार्यादिगोचरः) स्त्री-पुत्रादिविषयक (विभ्रमः वर्तते) विभ्रम होता है ।

भावार्थ—यह अज्ञानी बहिरात्मा अपनी आत्माके चैतन्यस्वरूपको न जानकर अपने शरीरके साथ स्त्री-पुत्र-मित्रादिकके शरीर-सम्बन्धको ही अपनी आत्माका सम्बन्ध समझता है और इसी कारण उनको अपना उपकारक मानता है, उनकी रक्षाका यत्न करता है, उनके संयोग तथा वृद्धिमें सुखी होता है, उनके वियोगमें अत्यंत व्याकुल हो उठता है। और यदि कदाचित् उनका बर्ताव अपने प्रतिकूल देखता है तो अत्यन्त शोक भी करता है तथा भारी दुःख मानता है । वस्तुतः जिस प्रकार पक्षिगण नाना दिग्देशोंसे आकर रात्रिमें एक वृक्षपर बसेरा लेते हैं और प्रातःकाल

---

*' सपरज्झवसाएणं देहेसु य अविदिदत्थमप्पाणं ।
सुयदाराईविसए मणुयाणं वड्ढए मोहो ॥१०॥
—मोक्षप्राभृते, कुन्दकुन्दः ।

एवंविधविभ्रमाच्च किं भवतीत्याह—

*अविद्यासंज्ञितस्तस्मात्संस्कारो जायते दृढः ।
येन लोकोऽङ्गमेव स्वं पुनरप्यभिमन्यते ॥ १२ ॥

टीका—तस्माद्विभ्रमाद्बहिरात्मनि संस्कारो वासना दृढोऽविचलो जायते। किन्नामा ? अविद्यासंज्ञितः अविद्या संज्ञाऽस्य संजातेति "तारकादिभ्य इतच्" येन संस्कारेण कृत्वालोकोऽविवेकिजनः । अंगमेव च शरीरमेव । स्वं आत्मानं । पुनरपि जन्मान्तरेऽपि । अभिमन्यते ॥ १२ ॥

होते ही सबके सब अपने-अपने अभीष्ट (इच्छित) स्थानको चले जाते हैं। उसी प्रकार ये संसारके समस्त जीव नाना गतियोंसे आकर कर्मोदयानुसार एक कुटुम्बमें जन्म लेते हैं व रहते हैं। यह मूढात्मा व्यर्थ ही उनमें निज-त्वकी बुद्धि धारणकर आकुलित होता है। अन्तरात्माकी ऐसी बुद्धि न होनेसे वह परद्रव्य में आसक्त नहीं होता, और इसीसे स्त्री-पुत्रादि-विषयक विभ्रमसे बचा रहता है ॥ ११ ॥

स्त्रीपुत्रादिमें ममत्वबुद्धि-धारणरूप विभ्रमका क्या परिणाम होता है, उसे बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(तस्मात्) उस विभ्रमसे (अविद्यासंज्ञितः) अविद्या नामका (संस्कारः) संस्कार (दृढः) दृढ-मज़बूत (जायते) होजाता है (येन) जिसके कारण (लोकः) अज्ञानी जीव (पुनरपि) जन्मान्तरमें भी (अंगमेव) शरीर-को ही (स्वं अभिमन्यते) आत्मा मानता है।

भावार्थ—यह जीव अनादिकालीन अविद्याके कारण कर्मोदयजन्य पर्यायोंमें आत्मबुद्धि धारण करता है—कर्मके उदयसे जो भी पर्याय मिलती है, उसीको अपना आत्मा समझ लेता है, और इस तरह उसका यह अज्ञानात्मक संस्कार जन्मजन्मान्तरोंमें भी बना रहनेसे बराबर दृढ होता चला जाता है। जिस प्रकार पत्थरमें रस्सी आदिको नित्यकी रगड़से उत्पन्न हुए चिन्ह बड़ी कठिनतासे दूर करनेमें आते हैं। उसी प्रकार आत्मामें उत्पन्न हुए इन अविद्याके संस्कारोंका दूर करना भी बड़ा ही कठिन होजाता है ॥ १२ ॥

---

* 'मिच्छाणाणेसुरओ मिच्छाभावेण भाविओ संतो ।
मोहोदयेण पुणरवि अंगं सम्मण्णए मणुओ ॥११॥
—मोक्षप्राभृते, कुन्दकुन्दः ।

एवमभिमन्यमानश्चासौ किं करोतीत्याह—

देहे स्वबुद्धिरात्मानं युनक्त्येतेन निश्चयात् ।
स्वात्मन्येवात्मधीस्तस्माद्वियोजयति देहिनं ॥ १३ ॥

टीका—देहे स्वबुद्धिरात्मबुद्धिर्बहिरात्मा किं करोति ? आत्मानं युनक्ति सम्बद्धं करोति दीर्घसंसारिणं करोतीत्यर्थः । केन ? एतेन देहेन । निश्चयात् परमार्थेन । स्वात्मन्येव जीवस्वरूपे एव आत्मधीरन्तरात्मा । निश्चयाद्वियोजयति असम्बद्धं करोति ॥ १३ ॥

अब बहिरात्मा और अन्तरात्मा का स्पष्ट कर्तव्यभेद बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(देहे स्वबुद्धिः) शरीरमें आत्मबुद्धि रखने वाला बहिरात्मा (निश्चयात्) निश्चयसे (आत्मानं) अपनी आत्माको (एतेन) शरीरके साथ (युनक्ति) जोड़ता-बांधता है। किन्तु (स्वात्मनि एव आत्मधीः) अपनी आत्मामें ही आत्मबुद्धि रखने वाला अन्तरात्मा (देहिनं) अपनी आत्माको (तस्मात्) शरीरके सम्बन्धसे (वियोजयति) पृथक् करता है ।

भावार्थ—मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा शरीरको ही आत्मा मानता है और इस प्रकारकी मान्यतासे ही आत्माके साथ नये-नये शरीरोंका सम्बन्ध होता रहता है, जिससे यह अज्ञानी जीव अनन्तकाल तक इस गहन संसारवनमें भटकता फिरता है और कर्मोंके तीव्रतापसे सदा पीड़ित रहता है । जब शरीरसे ममत्व छूट जाता है अर्थात् शरीरको अपने चैतन्यस्वरूपसे भिन्न पुद्गलका पिंड समझ लिया जाता है और आत्माके निज ज्ञानदर्शनस्वरूपमें ही आत्मबुद्धि हो जाती है तब यह जीव सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा होकर तपश्चरण अथवा ध्यानादिकके द्वारा अपने आत्माको शरीरादिकके बन्धनसे सर्वथा पृथक् कर लेता है और सदाके लिये मुक्त हो जाता है । अतएव बहिरात्मबुद्धिको छोड़कर अन्तरात्मा होना चाहिये और परमात्मपदको प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिये ॥ १३ ॥

देहेष्वात्मानं यो युनक्ति तस्य बहिरात्मनो दुर्विलसितोपदर्शनपूर्वकमाचार्योऽनुशयं कुर्वन्नाह—

देहेष्वात्मधिया जाताः पुत्रभार्यादिकल्पनाः ।
सम्पत्तिमात्मनस्ताभि र्मन्यते हा हतं जगत् ॥ १४ ॥

टीका—जाताः प्रवृत्ताः । काः ? पुत्रभार्यादिकल्पनाः । क ? देहेषु । कया ? आत्मधिया । क ? देहेष्वेव । अयमर्थः—पुत्रादिदेहं जीवत्वेन प्रतिपद्यमानस्य मत्पुत्रो भार्येतिकल्पना विकल्पा जायन्ते । ताभिश्चानात्मनीयाभिरनुपकारिणीभिश्च सम्पत्तिं पुत्रभार्यादिविभूत्यतिशयं आत्मनो मन्यते जगत्-कर्तृ स्वस्वरूपाद् बहिर्भूतं जगत् बहिरात्मा प्राणिगणः ॥ १४ ॥

शरीरोंमें आत्माके सम्बन्धको जोड़नेवाले बहिरात्माके निन्दनीय व्यापारको दिखाते हुए आचार्य महोदय अपना खेद प्रकट करते हैं—

अन्वयार्थ—(देहेषु) शरीरोंमें (आत्मधिया) आत्मबुद्धि होनेसे (पुत्रभार्यादिकल्पनाः) मेरा पुत्र, मेरी स्त्री इत्यादि कल्पनाएँ (जाताः) उत्पन्न होती हैं (हा) खेद है कि (जगत्) बहिरात्मरूप प्राणिगण (ताभिः) उन कल्पनाओंके कारण (सम्पत्तिं) स्त्री पुत्रादिकीसमृद्धिको [आत्मनः] अपनी समृद्धि (मन्यते) मानता है और इस प्रकार यह जगत् (हतं) नष्ट हो रहा है।

भावार्थ—जब तक इस जीवकी देहमें आत्मबुद्धि रहती है तब तक इसे अपने निराकुल निजानन्द रसका स्वाद नहीं आता, न अपनी अनन्तचतुष्टयरूप सम्पत्तिका भान (ज्ञान) होता है और तभी यह संसारी जीव स्त्री-पुत्र-मित्र-धन-धान्यादि सम्पत्तियोंको अपनी मानता हुआ उनके संयोग वियोगमें हर्ष-विषाद करता है तथा फलस्वरूप अपने संसारपरिभ्रमणको बढ़ाता जाता है। इसीसे आचार्य महोदय ऐसे जीवोंकी इस विपरीत बुद्धि पर खेद प्रकट करते हुए कहते हैं कि 'हाय! यह जगत् मारा गया!' ठगा गया, इसे अपना कुछ भी चेत नहीं रहा ॥ १४ ॥

इदानीमुक्तमर्थमुपसंहृत्यात्मन्यन्तरात्मनोऽनुप्रवेशं दर्शयन्नाह—

मूलं संसारदुःखस्य देह एवात्मधीस्ततः ।
त्यक्त्वैनां प्रविशेदन्तर्बहिरव्यापृतेन्द्रियः ॥ १५ ॥

टीका—मूलं कारणं । कस्य ? संसारदुःखस्य । काऽसौ ? देहएवात्मधीः देहः कायः स एवात्मधीः । यत एवं ततस्तस्मात्कारणात् । एनां देहएवात्मबुद्धिं । त्यक्त्वा अन्तः प्रविशेत् आत्मबुद्धिं कुर्यात् अन्तरात्मा भवेदित्यर्थः । कथंभूतः सन् ? बहिरव्यापृतेन्द्रियः बहिर्बाह्यविषयेषु अव्यापृतान्यप्रवृत्तानीन्द्रियाणि यस्य ॥ १५ ॥

अब बहिरात्माके स्वरूपादिका उपसंहार करके देहमें आत्मबुद्धिको छोड़नेकी प्रेरणाके साथ अन्तरात्मा होनेका उपदेश देते हुए कहते हैं—

अन्वयार्थ—(देहे) इस जड शरीरमें (आत्मधीः एव) आत्मबुद्धिका होना ही (संसारदुःखस्य) संसारके दुःखोंका (मूलं) कारण है । (ततः) इस लिये (एनां) शरीरमें आत्मत्वकी मिथ्या कल्पनाको (त्यक्त्वा) छोड़कर (बहिरव्यापृतेन्द्रियः) बाह्य विषयोंमें इन्द्रियोंकी प्रवृत्तिको रोकता हुआ (अन्तः) अन्तरंगमें अर्थात् आत्मा हीमें (प्रविशेत्) प्रवेश करे ।

भावार्थ—संसारके जितने भी दुःख और प्रपंच हैं वे सब शरीरके साथ ही होते हैं । जब तक इस जीवकी बाह्यपदार्थोंमें आत्मबुद्धि रहती है तब तक ही आत्मासे शरीरोंका सम्बन्ध होना रहता है और घोर दुःखों को भोगना पड़ता है । जब इस जीवका शरीरादि परद्रव्योंसे सर्वथा ममत्वभाव छूट जाता है तब किसी भी बाह्यपदार्थमें अहंकार-ममकाररूप बुद्धि नहीं होती तथा तत्त्वार्थका यथार्थ श्रद्धान होनेसे आत्मा परम सन्तुष्ट होता है और साधकभावकी पूर्णता होनेपर स्वयमेव साध्यरूप बन जाता है । इसी कारण इस ग्रंथमें ग्रंथकारने समस्त दुःखों की जड़ शरीरमें आत्मबुद्धिका होना बताया है और उसके छुड़ानेकी प्रेरणाकी है । अतः संसारके समस्त दुःखोंका मूल कारण देहमें आत्म-कल्पनारूप बुद्धिका परित्याग कर अन्तरात्मा होना चहिये, जिससे घोर दुःखोंसे छुटकारा मिले और सच्चे निराकुल सुखकी प्राप्ति होवे ॥ १५ ॥

अन्तरात्मा आत्मन्यात्मबुद्धिं कुर्वाणोऽलब्धलाभात्संतुष्ट आत्मीयां बहिरात्मावस्थामनुस्मृत्य विषादं कुर्वन्नाह—

मत्तश्च्युत्वेन्द्रियद्वारैः पतितो विषयेष्वहम् ।
तान् प्रपद्याऽहमिति मां पुरा वेद न तत्वतः ॥ १६ ॥

टीका—मत्तः आत्मस्वरूपात्। च्युत्वा व्यावृत्य । अहं पतितः अत्यासक्त्या प्रवृत्तः । क ? विषयेषु । कैः ? इन्द्रियद्वारैः इन्द्रियमुखैः। ततस्तान् विषयान् प्रपद्य ममोपकारका एते इत्यतिगृह्यानुसृत्य। मां आत्मानं। न वेद न ज्ञातवान । कथं ? अहमित्युल्लेखेन अहमेवाहं न शरीरादिकमित्येवं तत्त्वतो न ज्ञातवानित्यर्थः । कदा ? पुरा अनादिकाले ॥ १६ ॥

अपनी आत्मामें आत्मबुद्धि धारण करता हुआ अन्तरात्मा जब अलब्ध लाभमें सन्तुष्ट होता है तब अपनी पहिली बहिरात्मावस्थाका स्मरण करके विषाद करता हुआ विचारता है—

अन्वयार्थ—(अहं) मैं (पुरा) अनादिकालमें (मत्तः) आत्मस्वरूपसे (च्युत्वा) च्युत होकर (इन्द्रियद्वारैः) इन्द्रियोंके द्वारा (विषयेषु) विषयोंमें (पतितः) पतित हुआ—अत्यासक्तिसे प्रवृत्त हुआ हूँ। [ततः] इसी कारण (तान्) उन विषयोंको (प्रपद्य) अपने उपकारक समझ कर मैंने (तत्वतः) वास्तवमें (मां) आत्माको (अहं इति) मैं ही आत्मा हूँ इस रूपसे (न वेद) नहीं जाना—अर्थात् उस समय शरीरको ही आत्मा समझनेके कारण मुझे आत्माके यथार्थ स्वरूपका परिज्ञान नहीं हुआ।

भावार्थ—जब तक इस जीवको अपने चैतन्य स्वरूपका यथार्थ परिज्ञान नहीं होता तभी तक इसे बाह्य इन्द्रियोंके विषय सुंदर और सुखदाई मालूम पड़ते हैं। जब चैतन्य और जड़का भेदविज्ञान हो जाता है और अपने निराकुल चिदानन्दमयी सुधारसका स्वाद आने लगता है तब ये बाह्य इन्द्रियोंके विषय बड़े ही असुन्दर और काले विषधरके समान मालूम पड़ते हैं। कहा भी है—

"जायन्ते विरसा रसा विघटते गोष्ठी कथा कौतुकं,
शीर्यन्ते विषयास्तथा विरमति प्रीतिः शरीरेऽपि च।
जोषं वागपि धारयंत्यविरतानंदात्मनः स्वात्मन-
श्चिंतायामपि यातुमिच्छतिमनो दोषैः समं पंचताम् ।"

अथात्मनो ज्ञप्तावुपायं दर्शयन्नाह—

एवं त्यक्त्वा बहिर्वाचं त्यजेदन्तरशेषतः ।
एष योगः समासेन प्रदीपः परमात्मनः ॥ १७ ॥

टीका—एवं वक्ष्यमाणन्यायेन । बहिर्वाचं पुत्रभार्याधनधान्यलक्षणान्बहिरर्थवाचकशब्दान् । त्यक्त्वा । अशेषतः साकल्येन । पश्चात् अन्तर्वाचं अहं प्रतिपादकः, प्रतिपाद्यः, सुखी, दुखी, चेतनोवेत्यादिलक्षणामन्तर्जल्पं त्यजेदशेषतः । एष बहिरन्तर्जल्पत्यागलक्षणः योगः स्वरूपे चित्तनिरोधलक्षणः समाधिः । प्रदीपः स्वरूपप्रकाशकः । कस्य ? परमात्मनः । कथं ? समासेन संक्षेपेण झटिति परमात्मस्वरूपप्रकाशक इत्यर्थः ॥ १७ ॥

अर्थात्—आत्माका अनुभव होनेपर रस विरस होजाता है, गोष्ठी, कथा और कौतुकादि सब नष्ट हो जाते हैं, विषयोंसे सम्बन्ध छूट जाता है, शरीरसे भी ममत्व नहीं रहता, वाणी भी मौनधारण कर लेती है और आत्मा सदा अपने शांत रसमें लीन होजाता है तथा मनके दोषोंके साथ साथ चिन्ता भी दूर हो जाती है।

इसी कारण यह जीव जिन भोगोंको पहले मिथ्यात्व दशामें सुखका कारण समझकर भोगा करता था उन्हींके लिये सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा होने पर पश्चात्ताप करने लगता है । यह सब भेदविज्ञानकी महिमा है ॥१६॥

अब आचार्य आत्माको जाननेका उपाय प्रकट करते हुए कहते हैं—

अन्वयार्थ—(एवं) आगे कहेजाने वाली रीतिके अनुसार (बहिर्वाचं) बाह्यार्थवाचक वचन प्रवृत्तिको (त्यक्त्वा) त्यागकर (अन्तः) अंतरंग वचनप्रवृत्तिको भी (अशेषतः) पूर्णतया (त्यजेत्) छोड़ देना चाहिये । (एषः) यह बाह्याभ्यन्तररूपसे जल्पत्यागलक्षणवाला (योगः) योग—स्वरूपमें चित्तनिरोधलक्षणात्मक समाधि ही (समासेन) संक्षेपसे (परमात्मनः) परमात्माके स्वरूपका (प्रदीपः) प्रकाशक है।

भावार्थ—स्त्री-पुत्र-धन-धान्यादि-विषयक बाह्यवचनव्यापारको और मैं सुखी हूँ, दुखी हूँ, शिष्य हूँ इत्यादि *अन्तरंगजल्पको हटाकर चित्तकी एकाग्रताका जो* सम्पादन करना है वही योग अथवा समाधि है और वही

कुतः पुनर्बहिरन्तर्वाचस्त्यागः कर्तव्य इत्याह—

*यन्मया दृश्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा ।
जानन्न दृश्यते रूपं ततः केन ब्रवीम्यहम् ॥ १८ ॥

टीका—रूपं शरीरादिरूपं यद् दृश्यते इन्द्रियैः परिच्छेद्यते मया तद-चेतनत्वात् उक्तमपि वचनं सर्वथा न जानाति । जानता च समं वचनव्यवहारो युक्तो नान्येनातिप्रसङ्गात् । यच्च जानद् रूपं चेतनमात्मस्वरूपं तन्न दृश्यते इन्द्रियैर्न परिच्छेद्यते । यत एवं ततः केन सह ब्रवीम्यहम् ॥ १८ ॥

परमात्मस्वरूपका प्रकाशक है । जिस समय आत्मा इन बाह्य और आभ्यन्तर मिथ्या विकल्पोंका परित्याग कर देता है, उसी समय वह इन्द्रियोंकी प्रवृत्तिसे हटकर निज स्वरूपमें लीन होजाता है और शुद्ध आत्मस्वरूपका साक्षात्कार कर लेता है ।

वास्तवमें यह समाधि ही जन्म-जरा-मरणरूप आतापको मिटानेवाली परम औषधि है और परमात्मपदकी प्राप्तिका अमोघ उपाय है । ऐसी समाधिका निरन्तर अभ्यास करना चाहिये ॥ १७ ॥

अब अन्तरंग और बहिरंग वचनकी प्रवृत्तिके छोड़नेका उपाय बताते हैं—

अन्वयार्थ—(मया) इन्द्रियोंके द्वारा मुझे (यत्) जो (रूप) शरीरादिकरूपी पदार्थ (दृश्यते) दिखाई दे रहा है (तत्) वह अचेतन होनेसे (सर्वथा) बिल्कुल भी (न जानाति) नहीं जानता और (जानत् रूपं) जो पदार्थोंको जानने वाला चैतन्यरूप है वह(न दृश्यते) मुझे इन्द्रियोंके द्वारा दिखाई नहीं देता (ततः अहं) इस लिये मैं (केन) किसके साथ (ब्रवीमि) बात करूं ।

भावार्थ—जो अपनेको दिखाई पड़े और अपने अभिप्रायको समझे उसीके साथ बात-चीत करना या बोलना उचित है । इसी आशयको लेकर अंतरात्मा द्रव्यार्थिकनयको, प्रधानकर अपने मनको समझाता है कि—जो जाननेवाला चैतन्य द्रव्य है वह तो मुझे दिखाई नहीं देता और जो इन्द्रियोंके द्वारा रूपी शरीरादिक जड पदार्थ दिखाई दे रहे हैं वे चेतना-

---

*"जं मया दिस्सदे रूवं तं ण जाणादि सव्वहा ।
जाणगं दिस्सदे णं तं तम्हा जंपेमि केण हं ॥ ॥२९॥"
—मोक्षप्राभृते, कुन्दकुन्दः ।

एवं बहिर्विकल्पं परित्यज्यान्तर्विकल्पं परित्याजयन्नाह—

यत्परैः प्रतिपाद्योऽहं यत्परान् प्रतिपादये ।
उन्मत्तचेष्टितं तन्मे यदहं निर्विकल्पकः ॥ १९ ॥

टीका—परैरुपाध्यायादिभिरहं यत्प्रतिपाद्यः परान् शिष्यादीनहं यत्प्रतिपादये तत्सर्वमुन्मत्तचेष्टितं मोहवशादुन्मत्तस्येवाखिलं विकल्पजालात्मकं विजृम्भितमित्यर्थः । कुत एतत् ? यदहं निर्विकल्पको यद्यस्मादहमात्मा निर्विकल्पक एतैर्वचनविकल्पैरग्राह्यः ॥ १९ ॥

तदेव विकल्पातीतं स्वरूपं निरूपयन्नाह—

यदग्राह्यं न गृह्णाति गृहीतं नापि मुंचति ।
जानाति सर्वथा सर्वं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ॥ २० ॥

रहित होनेसे कुछ भी नहीं जानते हैं, तब मैं किससे बात करूं ? किसीसे भी वार्तालाप करना नहीं बनता । इस लिये मुझे अब चुपचाप (मौनयुक्त) रहना ही मुनासिब है । ग्रन्थकार श्री पूज्यपाद स्वामीने विभाव-भावरूप झंझटोंसे छूटने और वचनादिको वशमें करनेका यह अच्छा सरल एवं उत्तम उपाय बतलाया है ॥ १८ ॥

इस प्रकार बाह्य विकल्पोंके त्यागका प्रकार बतलाकर अब आभ्यन्तर विकल्पोंके छुड़ानेका यत्न करते हुए आचार्य कहते हैं—

अन्वयार्थ—(अहं) मैं (परैः) उपाध्याय आदिकोंसे (यत् प्रतिपाद्यः) जो कुछ प्रतिपादित किया जाता हूँ तथा (परान्) शिष्यादिकोंको (यत् प्रतिपादये) जो कुछ प्रतिपादन करता हूँ (तत्) वह सब (मे) मेरी (उन्मत्तचेष्टितं) पागलों जैसी चेष्टा है (यदहं) क्योंकि मैं (निर्विकल्पकः) वास्तवमें इन सभी वचनविकल्पोंसे अग्राह्य हूँ ।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि अन्तरात्माके लिये उचित है कि वह अपने निज स्वरूपका अनुभव करे । मैं राजा हूँ, रंक हूँ, दीन हूँ, धनी हूँ, गुरु हूँ, शिष्य हूँ इत्यादि अनेक विकल्प हैं जिनसे आत्माका वास्तविक स्वरूप प्रकट नहीं हो सकता । अतएव ऐसे विकल्पोंका परित्याग करना चाहिये और यह समझना चाहिये कि आत्माका स्वरूप निर्विकल्पक चैतन्य ज्योतिर्मय है ॥ १९ ॥

टीका—यत् शुद्धात्मस्वरूपं । अग्राह्यं कर्मोदयनिमित्तं क्रोधादिस्वरूपं। न गृह्णाति आत्मस्वरूपतया न स्वीकरोति । गृहीतमनन्तज्ञानादिस्वरूपं। नैव मुञ्चति कदाचिन्न परित्यजति । तेन च स्वरूपेण सहितं शुद्धात्मस्वरूपं किं करोति ? जानाति । किं तत् ? सर्वं चेतनमचेतनं वा वस्तु । कथं जानाति ? सर्वथा द्रव्यपर्यायादिसर्वप्रकारेण । तदित्थम्भूतं स्वरूपं स्वसंवेद्यं स्वसंवेदनग्राह्यम् अहमात्मा अस्मि भवामि ॥ २० ॥

इत्थंभूतात्मपरिज्ञानात्पूर्वं कीदृशं मम चेष्टितमित्याह—

उत्पन्नपुरुषभ्रान्तेः स्थाणौ यद्वद्विचेष्टितम् ।
तद्वन्मे चेष्टितं पूर्वं देहादिष्वात्मविभ्रमात् ॥ २१ ॥

उसी निर्विकल्पक स्वरूपका निरूपण करते हुए कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यत्) जो शुद्धात्मा (अग्राह्यं) ग्रहण न करने योग्यको (न गृह्णाति) ग्रहण नहीं करता है और (गृहीतं अपि) ग्रहण किये गये अनन्तज्ञानादि गुणोंको (न मुंचति) नहीं छोड़ता है तथा (सर्वं) सम्पूर्ण पदार्थोंको (सर्वथा) सर्व प्रकारसे (जानाति) जानता है (तत्) वही (स्व-संवेद्यं) अपने द्वारा ही अनुभवमें आने योग्य चैतन्यद्रव्य (अहं अस्मि) मैं हूँ।

भावार्थ—जबतक आत्मामें अनन्त दर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य अथवा क्षायिक सम्यक्त्वादि गुणोंका विकास नहीं होता तबतक ही आत्मा विभाव-भावोंमें मलिन होकर अग्राह्यका ग्राहक होता है अथवा कर्मोंका कर्ता और भोक्ता कहलाता है; किन्तु जब समस्त विभाव-भावोंका अभावकर आत्मा सम्पूर्ण पदार्थोंका ज्ञाता-द्रष्टा हुआ आत्मद्रव्यमें स्थिर होजाता है तब वह अपने गृहीत स्वरूपसे च्युत नहीं होता और तभी उसे परमब्रह्म या परमात्मा कहते हैं। जीवकी यह स्थिति ही उसकी वास्तविक स्थिति है ॥ २० ॥

'इस प्रकारके आत्मज्ञानके पूर्व मेरी कैसी चेष्टा थी', अन्तरात्माके इस विचारका उल्लेख करते हैं—

अन्वयार्थ—(स्थाणौ) स्थाणुमें (उत्पन्नपुरुषभ्रान्तेः) उत्पन्न होगई है

टीका—उत्पन्नपुरुषभ्रान्तेः पुरुषोऽयमित्युत्पन्ना भ्रान्तिर्यस्य प्रतिपत्तुस्तस्य। स्थाणौ स्थाणुविषये। यद्वद्यत्प्रकारेण। विचेष्टितं विविधमुपकारादिरूपं चेष्टितं विपरीतं वा चेष्टितं। तद्वत् तत्प्रकारेण। मे चेष्टितं। क्व ? देहादिषु। कस्मात् ? आत्मविभ्रमात् आत्मविपर्यासात्। कदा ? पूर्वम् उक्तस्वरूपात्मज्ञानात्प्राक्॥ २१॥

साम्प्रतं तु तत्परिज्ञाने सति कीदृशं मे चेष्टितमित्याह—

यथाऽसौ चेष्टते स्थाणौ निवृत्ते पुरुषाग्रहे।
तथाचेष्टोऽस्मि देहादौ विनिवृत्तात्मविभ्रमः॥ २२॥

टीका—असौ उत्पन्नपुरुषभ्रान्तिः पुरुषाग्रहे पुरुषाभिनिवेशे निवृत्ते विनष्टे

पुरुषपनेकी भ्रान्ति जिसको ऐसे मनुष्यकी (यद्वत्) जिस प्रकार (विचेष्टितम्) विकृत अथवा विपरीत चेष्टा होती है (तद्वत्) उसी प्रकारकी (देहादिषु) शरीरादिक परपदार्थोंमें (आत्मविभ्रमात्) आत्माका भ्रम होनेसे (पूर्वं) आत्मज्ञानसे पहले (मे) मेरी (चेष्टितम्) चेष्टा थी।

भावार्थ—अन्तरात्मा विचारता है कि जैसे कोई पुरुष भ्रमसे वृक्षके ठूंठको पुरुष समझकर उससे अपने उपकार-अपकारादिकी कल्पना करके सुखी-दुखी होता है उसी तरह मैं भी आत्मज्ञानसे पूर्वकी मिथ्यात्व-अवस्था में भ्रमसे शरीरादिकको आत्मा समझकर उससे अपने उपकार अपकारादिकी कल्पना करके सुखी-दुखी हुआ हूँ॥ २१॥

अब आत्मज्ञान हो जानेसे मेरी किस प्रकारकी चेष्टा हो गई है उसे बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(असौ) जिसको वृक्षके ठूंठमें पुरुषका भ्रम होगया था वह मनुष्य (स्थाणौ) ठूंठमें (पुरुषाग्रहे निवृत्ते) यह पुरुष है ऐसे मिथ्याभिनिवेशके नष्ट होजाने पर (यथा) जिस प्रकार उससे अपने उपकारादिकी कल्पनाको त्यागनेकी (चेष्टते) चेष्टा करता है उसी प्रकार (देहादौ) शरीरादिकमें (विनिवृत्तात्मविभ्रमः) आत्मपनेके भ्रमसे रहित हुआ मैं भी (तथा चेष्टः अस्मि) देहादिकमें अपने उपकारादिकी बुद्धिको छोड़नेमें प्रवृत्त हुआ हूँ।

सति यथा येन पुरुषाभिनिवेशजनितोपकाराद्युद्यमपरित्यागप्रकारेण । चेष्टते प्रवर्तते । तथाचेष्टोऽस्मि तथा तदुद्यमपरित्यागप्रकारेण चेष्टा यस्यासौ तथाचेष्टोऽस्मि भवाम्यहम् । क ? देहादौ । किं विशिष्टः ? विनिवृत्तात्मविभ्रमः विशेषेण निवृत्त आत्मविभ्रमो यस्य । क ? देहादौ ॥ २२ ॥

अथेदानीमात्मनि स्त्र्यादिलिङ्गैकत्वादिसंख्याविभ्रमनिवृत्त्यर्थं तद्विविक्तासाधारणस्वरूपं दर्शयन्नाह—

येनात्मनाऽनुभूयेऽहमात्मनैवात्मनात्मनि ।
सोऽहं न तन्न सा नासौ नैको न द्वौ न वा बहुः ॥ २३ ॥

भावार्थ—जब वृक्षके ठूंठको वृक्षका ठूंठ जान लिया जाता है तब उससे होने वाला पुरुष-विषयक भ्रम भी दूर हो जाता है और फिर उस कल्पित पुरुषसे अपने उपकार-अपकारकी कोई कल्पना भी अवशिष्ट नहीं रहती। इसी दृष्टिसे सम्यग्दृष्टि अंतरात्मा विचार करता है कि पूर्व मिथ्यात्व-दशामें जब मैं मोहोदयसे शरीरको ही आत्मा समझता था तब मैं इन्द्रियोंका दास था, उनकी साता परिणतिमें सुख और असाता परिणतिमें ही दुःख मानता था; किन्तु अब विवेक-ज्योतिका विकास हुआ—आत्मा चैतन्यस्वरूप है, बाकी सब पदार्थ अचेतन हैं-जड़ हैं, आत्मासे भिन्न हैं, इस प्रकारके जड़ और चैतन्यके भेद-विज्ञानसे मुझे तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हुई है और शरीरादिकके विषयमें होने वाला आत्मविषयक मेरा भ्रम दूर होगया है। इसीसे शरीरके संस्कारादि विषयमें मेरी अब उपेक्षा होगई है—मैं समझने लगा हूँ कि शरीरादिकके बनने अथवा बिगड़नेसे मेरी आत्माका कुछ भी बनता अथवा बिगड़ता नहीं है और इसीसे शरीरादिकी अनावश्यक चिंताको छोड़ कर अब मैं सविशेषरूपसे आत्म चिन्तनमें प्रवृत्त हुआ हूँ ॥ २२ ॥

अब आत्मामें स्त्री आदि लिङ्गोंके तथा एकत्वादि संख्याके भ्रमको दूर करनेके लिये और इन विकल्पोंसे रहित आत्माका असाधारणस्वरूप दिखलानेके लिये कहते हैं—

अन्वयार्थ—(येन) जिस (आत्मना) चैतन्यस्वरूपसे (अहम्) मैं (आत्मनि) अपनी आत्मामें ही (आत्मना) अपने स्वसंवेदनज्ञानके द्वारा

टीका—येनात्मना चैतन्यस्वरूपेण इत्थंभावे तृतीया । अहमनुभूये । केन कर्त्रा ? आत्मनैव अनन्येन । केन कारणभूतेन ? आत्मना स्वसंवेदन-स्वभावेन । क ? आत्मनि स्वस्वरूपे । सोऽहं इत्थंभूतस्वरूपोऽहं । न तत् न नपुंसकं । न सा न स्त्री । नासौ न पुमान् अहं । तथा नैको न द्वौ न वा बहुरहं । स्त्रीत्वादिधर्माणां कर्मोत्पादितस्वरूपत्वात् ॥ २३ ॥

येनात्मना त्वमनुभूयसे स कीदृशः इत्याह—

यद्भावे सुषुप्तोऽहं यद्भावे व्युत्थितः पुनः ।
अतीन्द्रियमनिर्देश्यं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ॥ २४ ॥

(आत्मनैव) अपनी आत्माको आप ही (अनुभूये) अनुभव करता हूँ (सः) वही शुद्धात्मस्वरूप (अहं) मैं (न तत्) न तो नपुंसक हूँ (न सा) न स्त्री हूँ (न असौ) न पुरुष हूँ (न एको) न एक हूँ (न द्वौ) न दो हूँ (वा) और (न बहुः) न बहुत हूँ ।

भावार्थ—अन्तरात्मा विचार करता है कि जीवमें स्त्री-पुरुष आदिका व्यवहार केवल शरीरको लेकर होता है; इसी प्रकार एक दो और बहुवचन का व्यवहार भी शरीराश्रित है अथवा गुण गुणीको भेदकल्पनाके कारण होता है; जब शरीर मेरा रूप ही नहीं है और मेरा शुद्धस्वरूप निर्विकल्प है तब मुझमें लिङ्गभेद और वचनभेद कैसे बन सकता है ? ये स्त्रीत्वादिधर्म तो कर्मजनित अवस्थाएँ हैं, मेरा निजरूप नहीं हैं—मेरा शुद्धचैतन्यस्वरूप इन सबसे परे है ॥ २३ ॥

यदि कोई पूछे कि जिस आत्मरूपसे तुम अपनेको अनुभव करते हो वह कैसा है, उसे बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(यत् अभावे) जिस शुद्धात्मस्वरूपके प्राप्त न होनेसे (अहं) मैं (सुषुप्तः) अब तक गाढनिद्रामें पड़ा रहा हूँ—मुझे पदार्थोंका यथार्थ परिज्ञान न हो सका (पुनः) और (यत् भावे) जिस शुद्धात्मस्वरूपकी उपलब्धि होने पर मैं (व्युत्थितः) जागरित हुआ हूँ—यथावत वस्तुस्वरूपको जानने लगा हूँ (तत्) वह शुद्धात्मस्वरूप (अतीन्द्रियं) इन्द्रियोंके द्वारा ग्राह्य नहीं है (अनिर्देश्य) वचनोंके भी अगोचर है—कहा नहीं जाता । वह तो (स्वसंवेद्यं) अपने द्वारा आप ही अनुभव करने योग्य है । उसी रूप (अहं अस्मि) मैं हूँ ।

टीका—यस्य शुद्धस्य स्वसंवेद्यस्य रूपस्य । अभावे अनुपलम्भे । सुषुप्तो यथावत्पदार्थपरिज्ञानाभावलक्षणनिद्रया गाढाक्रान्तः । यद् भावे यस्य तत्स्वरूपस्य भावे उपलम्भे । पुनर्व्युत्थितः विशेषेणोत्थितो जागरितोऽहं यथावत्स्वरूपपरिच्छित्तिपरिणत इत्यर्थः । किं विशिष्टं तत्स्वरूपं ? अतीन्द्रियं इन्द्रियैरजन्यमग्राह्यं च । अनिर्देश्यं शब्दविकल्पागोचरत्वादिदंतयाऽनिदन्तया वा निर्देष्टुमशक्यम् । तदेवंविधं स्वरूपं कुतः सिद्धमित्याह—तत्स्वसंवेद्यं तदुक्तप्रकारकस्वरूपं स्वसंवेदग्राह्यं अहमस्मीति ॥ २४ ॥

तत्स्वरूपं स्वसंवेदयतो रागादिप्रक्षयान्न कश्चिच्छत्रुमित्रव्यवस्था भवतीति दर्शयन्नाह—

क्षीयन्तेऽत्रैव रागाद्यास्तत्वतो मां प्रपश्यतः ।
बोधात्मानं ततः कश्चिन्न मे शत्रुर्न च प्रियः ॥ २५ ॥

भावार्थ—जब तक इस जीवको शुद्ध चैतन्यरूप अपने निजस्वरूपकी प्राप्ति नहीं होती तब तक ही यह जीव मोहरूपी गाढ़निद्रामें पड़ा हुआ सोता रहता है; किन्तु जब अज्ञानभावरूप निद्राका विनाश हो जाता है और शुद्धस्वरूपकी प्राप्ति हो जाती है उसी समयसे यह जागरित कहलाता है। संसारके रागी जीव व्यवहारमें जागते हैं किन्तु अपने आत्मस्वरूपमें सोते हैं; परन्तु आत्मज्ञानी संयमी पुरुष व्यवहारमें सोते हैं और आत्मस्वरूपमें सदा सावधान एवं जाग्रत रहते हैं* ॥ २४ ॥

आत्मस्वरूपका अनुभव करने वालेकी आत्मामें रागादि दोषोंका अभाव होजानेसे शत्रु-मित्रकी कल्पना नहीं होती, ऐसा दिखाते हैं—

अन्वयार्थ—[यतः] क्योंकि (बोधात्मानं) शुद्ध ज्ञानस्वरूप (मां) मुझआत्माका (तत्त्वतः प्रपश्यतः) वास्तवमें अनुभव करने वालेके (अत्र एव) इस जन्ममें ही (रागाद्याः) राग, द्वेष, क्रोध, मान, मायादिक दोष (क्षीयन्ते) नष्ट हो जाते हैं (ततः) इस लिये (मे) मेरा (न कश्चित्) न कोई (शत्रुः) शत्रु है (न च) और न कोई (प्रियः) मित्र है।

---

*जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि ।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणे कज्जे ॥
—मोक्षप्राभृते, कुन्दकुन्दः

टीका—अत्रैव न केवलमग्रे किन्तु अत्रैव जन्मनि क्षीयन्ते। के ते ? रागाद्याः आदौ भवः आद्यः राग आद्यो येषां द्वेषादीनां ते तथोक्ताः। किं कुर्वन्तस्ते क्षीयन्ते ? तत्त्वतो मां प्रपश्यतः। कथम्भूतं मां ? बोधात्मानं ज्ञानस्वरूपं। तत इत्यादि—यतो यथावदात्मानं पश्यतो रागादयः प्रक्षीणा-स्ततस्तस्मात् कारणात् न मे कश्चिच्छत्रुः। न च नैव प्रियो मित्रम् ॥ २५ ॥

यदि त्वमन्यस्य कस्यचिन्न शत्रुर्मित्रं वा तथापि तवान्यः कश्चिद्भविष्य-तीत्याशंक्याह—

मामपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः।
मां प्रपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः ॥ २६ ॥

टीका—आत्मस्वरूपे प्रतिपन्नेऽप्रतिपन्नेवाऽयंलोको मयि शत्रुमित्रभावं-

---

भावार्थ—जब तक यह जीव अपने निजानन्दमयी स्वाभाविक निरा-कुलतारूप सुधामृतका पान नहीं करता तब तक ही वह बाह्य पदार्थोंको भ्रममें इष्ट-अनिष्ट मानकर उनके संयोग-वियोगके लिये सदा चिन्तित रहता है और जो उस संयोग-वियोगमें साधक बाधक होते हैं उन्हें अपना शत्रु-मित्र मान लेता है, किन्तु जब आत्मा प्रबुद्ध होकर यथार्थ वस्तु-स्थितिका अनुभव करने लगता है तब उसकी रागद्वेषादिरूप विभाव-परिणति मिट जाती है और इसलिये बाह्य सामग्रीके साधक-बाधक कारणोंमें उसके शत्रु-मित्रताका भाव नहीं रहता। वह तो उस समय अपने ज्ञानानन्दमें मग्न रहना ही सर्वोपरि समझता है ॥ २५ ॥

यदि कोई कहे कि भले ही तुम किसी दूसरेके शत्रु या मित्र न हो परन्तु तुम्हारा तो कोई अन्य शत्रु या मित्र अवश्य होगा, इस शंकाका समाधान करते हुए कहते हैं—

अन्वयार्थ—(मां) मेरे आत्मस्वरूपको (अपश्यन्) नहीं देखता हुआ (अयं लोकः) यह अज्ञप्राणिवृन्द (न मे शत्रुः) न मेरा शत्रु है (न च प्रियः) और न मित्र है तथा (मां) मेरे आत्मस्वरूपको (प्रपश्यन्) देखता हुआ (अयं लोकः) यह प्रबुद्धप्राणिगण (न मे शत्रुः) न मेरा शत्रु है (न च प्रियः) और न मित्र है।

प्रतिपद्यते ? न तावदप्रतिपन्ने । मामपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्नचप्रियः । अप्रतिपन्ने हि वस्तुस्वरूपे रागाद्युत्पत्तावतिप्रसङ्गः । नापि प्रतिपन्ने यतः मां प्रपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः । आत्मस्वरूपप्रतीतौ रागादिकप्रक्षयात् कथं क्वचिदपि शत्रुमित्रभावः स्यात् ॥ २६ ॥

अन्तरात्मनो बहिरात्मत्वत्यागे परमात्मत्वप्राप्तौ चोपायत्वं दर्शयन्नाह—

त्यक्त्वैवं बहिरात्मानमन्तरात्मव्यवस्थितः ।
भावयेत्परमात्मानं सर्वसंकल्पवर्जितम् ॥ २७ ॥

टीका—एवमुक्तप्रकारेणान्तरात्मव्यवस्थितः सन् बहिरात्मानं त्यक्त्वा परमात्मानं भावयेत् । कथंभूतं ? सर्वसंकल्पवर्जितं विकल्पजालरहितं अथवा सर्वसंकल्पवर्जितः सन् भावयेत् ॥ २७ ॥

भावार्थ—आत्मज्ञानी विचारता है कि शत्रु-मित्रकी कल्पना परिचित व्यक्तिमें ही होती है—अपरिचितमें नहीं । ये संसारके बेचारे अज्ञप्राणी जो मुझे देखते जानते ही नहीं—मेरा आत्मस्वरूप जिनके चर्मचक्षुओंके अगोचर है—वे मेरे विषयमें शत्रु-मित्रकी कल्पना कैसे कर सकते हैं ? और जो मेरे स्वरूपको जानते हैं—मेरे शुद्धात्मस्वरूपका साक्षात् अनुभव करते हैं—उनके रागद्वेषका अभाव हो जानेसे शत्रु मित्रताके भावकी उत्पत्ति नहीं बनती, फिर वे मेरे शत्रु वा मित्र कैसे बन सकते हैं ? इस तरह अज्ञ और विज्ञ दोनों ही प्रकारके जीव मेरे शत्रु या मित्र नहीं हैं ॥ २६ ॥

बहिरात्मपनेका त्याग होने पर अन्तरात्माके परमात्मपदकी प्राप्तिका उपाय बतलाते हुए कहते हैं—

अन्वयार्थ—(एवं) इस प्रकार (बहिरात्मानं) बहिरात्मपनेको (त्यक्त्वा) छोड़कर (अंतरात्मव्यवस्थितः) अंतरात्मामें स्थित होते हुए (सर्वसंकल्पवर्जितं) सर्वसंकल्प-विकल्पोंसे रहित (परमात्मानं परमात्माको (भावयेत्) ध्याना चाहिए ।

भावार्थ—बहिरात्मावस्थाको अत्यंत हेय (त्यागने योग्य) समझकर छोड़ देना चाहिये और आत्मस्वरूपका ज्ञायक अन्तरात्मा होकर जगतके छंद फंद चिंता आदिसे मुक्त हुआ आत्मोत्थ स्वाधीन सुखकी प्राप्तिके

तद्भावनायाः फलं दर्शयन्नाह—

सोऽहमित्यात्तसंस्कारस्तस्मिन् भावनया पुनः।
तत्रैव दृढसंस्काराल्लभते ह्यात्मनि* स्थितिम् ॥२८॥

टीका—योऽनन्तज्ञानात्मकः प्रसिद्धः परमात्मा सोऽहमित्येवमात्तसंस्कारः आत्तो गृहीतः संस्कारो वासना येन। कया कस्मिन्? भावनया तस्मिन् परमात्मनि भावनया सोऽहमित्यभेदाभ्यासेन। पुनरित्यन्तर्गर्भितवीप्सार्थः। पुनः पुनस्तस्मिन् भावनया। तत्रैव परमात्मन्येव दृढसंस्कारात् अविचलवासनावशात्। लभते प्राप्नोति ध्याता। हि स्फुटम्। आत्मनि स्थितिं आत्मन्यचलतां अनन्तज्ञानादिचतुष्टयरूपतां वा ॥ २८ ॥

आत्मोत्थ स्वाधीन सुखकी प्राप्तिके लिये परमात्माके चिन्तन आराधन पूर्वक तद्रूप बननेकी भावना करनी चाहिये ॥२७॥

अब परमात्मपदकी भावनाका फल दिखाते हुए कहते हैं--

अन्वयार्थ--(तस्मिन्) उस परमात्मपदमें (भावनया) भावना करते रहनेसे (सः अहं) 'वह अनन्तज्ञानस्वरूप परमात्मा मैं हूँ' (इति) इस प्रकारके (आत्तसंस्कारः) संस्कारको प्राप्त हुआ ज्ञानी पुरुष (पुनः) फिर फिर उस परमात्मपदमें आत्मस्वरूपकी भावना करता हुआ (तत्रैव) उसी परमात्मस्वरूपमें (दृढसंस्कारात्) संस्कारकी दृढ़ताके होजानेसे (हि) निश्चयसे (आत्मनि) अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूपमें (स्थितिं लभते) स्थिरताको प्राप्त होता है।

भावार्थ—जब 'सोऽहम्' की दृढ़ भावना द्वारा परमात्मपदके साथ जीवात्माकी एकत्व बुद्धि हो जाती है तभी इस जीवको अपनी अनन्तचतुष्टयरूप निधिका परिज्ञान होजाता है और वह अपनेको वीतरागी परम-आनन्दस्वरूप मानने लगता है। उस समय काल्पनिक क्षणिक सांसारिक सुखके कारण बाह्यपदार्थोंमें उसका ममत्व छूट जाता है, राग द्वेषकी मंदता होजाती है और अभेदबुद्धिसे परमात्मस्वरूपका चिंतवन करते करते आत्मा अपने आत्मस्वरूपमें स्थिर होजाता है। इसीको आत्मलाभ कहते हैं, जिसके फलस्वरूप आत्मा अनन्तकाल तक निराकुल अनुपम

---

* ह्यात्मनः इति पाठान्तरं 'ग' प्रतौ

नन्वात्मभावनाविषये कष्टपरम्परासद्भावेन भयोत्पत्तेः कथं कस्यचित्तत्र प्रवृत्तिरित्याशङ्कां निराकुर्वन्नाह—

मूढात्मा यत्र विश्वस्तस्ततो नान्यद्भयास्पदम् ।
यतो भीतस्ततो नान्यदभयस्थानमात्मनः ॥ २९ ॥

टीका—मूढात्मा बहिरात्मा । यत्र शरीरपुत्रकलत्रादिषु । विश्वस्तोऽवंचकाभिप्रायेण विश्वासं प्रतिपन्नः—मदीया एते अहमेतेषामितिबुद्धिं गत इत्यर्थः । ततो नान्यद्भयास्पदं ततः शरीरादेर्नान्यद्भयास्पदं संसारदुःखत्रासस्यास्पदं स्थानम् । यतो भीतः परमात्मस्वरूपसंवेदनाद्भीतः त्रस्तः । ततो नान्यदभयस्थानं ततः स्वसंवेदनात् नान्यत् अभयस्य संसारदुःखत्रासाभावस्य स्थानमास्पदम् । सुखास्पदं ततो नान्यदित्यर्थः ॥ २९ ॥

स्वाधीनसुखका भोक्ता होता है । अतः 'सोऽहम्' भावना बड़ी ही उपयोगी है, उसके द्वारा अपने आत्मामें परमात्मपदके संस्कार डालने चाहियें ॥ २८ ॥

यदि कोई आशंका करे कि परमात्माकी भावना करना तो बड़ा कठिन कार्य है, उसमें तो कष्ट-परम्पराके सद्भावके कारण भय बना रहता है, फिर जीवोंकी प्रवृत्ति उसमें कैसे हो सकती है, ऐसी आशंकाका निराकरण करते हुए कहते हैं—

अन्वयार्थ—(मूढात्मा) अज्ञानी बहिरात्मा (यत्र) जिन शरीर-पुत्र-मित्रादि बाह्यपदार्थोंमें (विश्वस्तः) 'ये मेरे हैं, मैं इनका हूँ' ऐसा विश्वास करता है (ततः) उन शरीर-स्त्री-पुत्रादि बाह्यपदार्थोंसे (अन्यत्) और कोई (भयास्पदं न) भयका स्थान नहीं है और (यतः) जिस परमात्मस्वरूपके अनुभवसे (भीतः) डरा रहता है (ततः अन्यत्) उसके सिवाय कोई दूसरा (आत्मनः) आत्माके लिये (अभयस्थानं न) निर्भयताका स्थान नहीं है ।

भावार्थ—जैसे सर्पसे डसा हुआ मनुष्य कडुवा नीम भी रुचिसे चबाता है उसी प्रकार विषय-कषायोंमें संलग्न हुए जीवको दुःखदाई शरीरादिक बाह्यपदार्थ भी मनोहर एवं सुखदाई मालूम होते हैं और

तस्यात्मनः कीदृशः प्रतिपत्त्युपाय इत्याह—

सर्वेन्द्रियाणि संयम्य स्तिमितेनान्तरात्मना ।
यत्क्षणं पश्यतो भाति तत्तत्त्वं परमात्मनः ॥३०॥

टीका—संयम्य स्वविषये गच्छन्ति निरुध्य । कानि ? सर्वेन्द्रियाणि पञ्चापीन्द्रियाणि । तदनन्तरं स्तिमितेन स्थिरीभूतेन । अन्तरात्मना मनसा । यत्स्वरूपं भाति । किं कुर्वतः ? क्षणं पश्यतः क्षणमात्रमनुभवतः बहुतर-कालं मनसा स्थिरीकर्तुमशक्यत्वात् स्तोककालं मनोनिरोधं कृत्वा पश्यतो यच्चिदानन्दस्वरूपं प्रतिभाति तत्तत्त्वं तद्रूपं स्वरूपं परमात्मनः ॥ ३० ॥

पित्तज्वर वाले रोगीको जिस प्रकार मधुर दुग्ध कडुवा मालूम होता है उसी प्रकार बहिरात्मा अज्ञानी जीवको सुखदाई परमात्मस्वरूपकी भावना भी कष्टप्रद मालूम पड़ती है और इसी विपरीत बुद्धिके कारण यह जीव अनादि कालसे दुखी होरहा है । वास्तवमें इस जीवके लिये परमात्मस्व-रूपके अनुभवके समान और कोई भी सुखदाई पदार्थ संसारमें नहीं है और न शरीरके समान दुखदाई कोई दूसरा पदार्थ ही है ॥ २९ ॥

अब उस आत्माकी प्राप्ति किस उपायसे होती है उसे बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(सर्वेन्द्रियाणि) सम्पूर्ण पांचों इन्द्रियोंको (संयम्य) अपने विषयोंमें यथेष्ट प्रवृत्ति करनेसे रोककर (स्तिमितेन) स्थिर हुए (अन्तरात्मना) अन्तःकरणके द्वारा (क्षणं पश्यतः) क्षणमात्रके लिये अनुभव करने वाले जीवके (यत्) जो चिदानन्दस्वरूप (भाति) प्रतिभासित होता है । (तत्) वही (परमात्मनः) परमात्माका (तत्त्वं) स्वरूप है ।

भावार्थ—परमात्माका अनुभव प्राप्त करनेके लिये स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण इन पांचों इन्द्रियोंको अपने-अपने विषयोंमें प्रवृत्ति करने-से रोककर मनको स्थिर करना चाहिये । अर्थात् उसे अन्तर्जल्पादिरूप संकल्प-विकल्पसे मुक्त करना चाहिये । ऐसा होनेपर जो अन्तरंगावलोकन किया जावेगा उसीसे शुद्ध चैतन्यमय परमात्मस्वरूपका अनुभव हो सकेगा । इन्द्रियों द्वारा ज्ञेयपदार्थोंमें भ्रमती हुई चित्तवृत्तिको रोके बिना कुछ भी नहीं बनता । अतः आत्मानुभवके लिये उसे रोकनेका सबसे पहले प्रयत्न होना चाहिये ॥ ३० ॥

कस्मिन्नाराधिते तत्स्वरूपं प्राप्तिर्भविष्यतीत्याशङ्क्याह—

यः परात्मा स एवाऽहं योऽहं स परमस्ततः ।
अहमेव मयोपास्यो नान्यः* कश्चिदितिस्थितिः ॥३१॥

टीका—यः प्रसिद्धः पर उत्कृष्ट आत्मा स एवाहं । योऽहं यः स्वसंवेदनेन प्रसिद्धोऽहमन्तरात्मा स परमः परमात्मा । ततो यतो मया सह परमात्मनोऽभेदस्ततोऽहमेव मया उपास्य आराध्यः । नान्यः कश्चिन्मयोपास्य इति स्थितिः । एवं स्वरूप एवाराध्याराधकभावव्यवस्था ॥ ३१ ॥

एतदेव दर्शयन्नाह—

प्रच्याव्य विषयेभ्योऽहं मां मयैव मयि स्थितम् ।
बोधात्मानं प्रपन्नोऽस्मि परमानन्दनिर्वृतम् ॥ ३२ ॥

अब यह बतलाते हैं कि परमात्मस्वरूपकी प्राप्ति किसकी आराधना करने पर होगी—

अन्वयार्थ—(यः) जो (परात्मा) परमात्मा है (स एव) वह ही (अहं) मैं हूँ तथा (यः) जो स्वानुभवगम्य (अहं) मैं हूँ (सः) वही (परमः) परमात्मा है। (ततः) इसलिये—जब कि परमात्मा और आत्मामें अभेद है (अहं एव) मैं ही (मया) मेरे द्वारा (उपास्यः) उपासना किये जाने के योग्य हूँ (कश्चित् अन्यः न) दूसरा कोई मेरा उपास्य नहीं, (इति स्थितिः) इस प्रकार ही आराध्य-आराधक-भावकी व्यवस्था है।

भावार्थ—जब यह अन्तरात्मा अपनेको सिद्ध समान शुद्ध, बुद्ध, ज्ञाता, द्रष्टा अनुभव करता हुआ अभेद—भावनाके बलपर शुद्ध आत्मस्वरूपमें तन्मय हो जाता है तभी वह कर्मबन्धनको नष्ट करके परमात्मा बन जाता है। अतएव सांसारिक दुःखोंसे छूटने अथवा दृढ-बंधनसे मुक्त होनेके लिये अपना शुद्धात्मस्वरूप ही उपासना किये जानेके योग्य है ॥३१॥

आगे इसी बातको और स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

अन्वयार्थ—(अहं) मैं (मयि स्थितम्) अपनेहीमें स्थित (बोधात्मानं)

---

* 'नाज्ञः' इति पाठान्तरं 'ग' प्रतौ।

टीका—मामात्मानमहं प्रपन्नोऽस्मि भवामि किं कृत्वा ? प्रत्याव्य व्यावर्त्य केभ्यः ? विषयेभ्यः । केन कृत्वा ? मयैवात्मस्वरूपेणैव करणात्मना । क स्थितं माम् प्रपन्नोऽहं ? मयि स्थितं आत्मस्वरूप एव स्थितम् । कथम्भूतं मां ? बोधात्मानं ज्ञानस्वरूपम् । पुनरपि कथम्भूतम् ? परमानन्दनिर्वृतं परमश्चासावानन्दश्च सुखं तेन निर्वृत्तं सुखीभूतम् । अथवा परमानन्दनिर्वृतोऽहम् ॥ ३२ ॥

एवमात्मानं शरीराद्भिन्नं यो न जानाति तं प्रत्याह—

यो न वेत्ति परं देहादेवमात्मानमव्ययम् ।
लभते स न निर्वाणं तप्त्वाऽपि परमं तपः ॥ ३३ ॥

टीका—यः प्रतिपन्नो देहात्परं भिन्नमात्मानमेवमुक्तप्रकारेण न वेत्ति ।

ज्ञानस्वरूप (परमानन्दनिर्वृतम्) परम आनन्द से परिपूर्ण (मां) अपनी आत्माको (विषयेभ्यः) पंचेन्द्रियों के विषयों से (प्रत्याव्य) छुड़ाकर (मया एव) अपने ही द्वारा (प्रपन्नोऽस्मि) आत्मस्वरूपको प्राप्त हुआ हूँ।

भावार्थ—जिस परमात्मपदके प्राप्त करनेकी अभिलाषा है वह शक्ति रूप से इस आत्मामें ही मौजूद है; किन्तु उसकी व्यक्ति अथवा प्राप्ति इन्द्रिय विषयोंसे विरक्त होकर ज्ञान और वैराग्यका सुदृढ़ अभ्यास करनेसे होती है। इस लिये हमें चाहिये कि हम जीवन्मुक्त परमात्माके दिव्य उपदेशका मनन करके उनके नकशे कदम पर चलें और उन जैसी वीतराग-ध्यानमयी शांत-मुद्रा बनकर चैतन्य जिनप्रतिमा बननेकी कोशिश करें तथा उनकी सौम्याकृतिरूप प्रतिबिम्बका चित्र अपने हृदय-पटल पर अंकित करें। इस तरह आत्मस्वरूपके साधक कारणोंको उपयोगमें लाकर स्वयं ही परमात्मपद प्राप्त करें और निजानन्द-रसका पान करते हुए अनन्त काल तक अनन्त सुखमें मग्न रहें॥ ३२ ॥

इस प्रकार जो शरीरसे आत्माको भिन्न नहीं जानता है उसके प्रति कहते हैं:—

अन्वयार्थ—(एवं) उक्त प्रकारसे (यः) जो (अव्ययं) अविनाशी (आत्मानं) आत्माको (देहात्) शरीरसे (परं न वेत्ति) भिन्न नहीं जानता है

किं विशिष्टम् ? अव्ययं अपरित्यक्तानन्तचतुष्टयस्वरूपम् । स प्रतिपन्नान्न निर्वाणं लभते । किं कृत्वा ? तप्त्वाऽपि । किं तत् ? परमंतपः ॥ ३३ ॥

ननु परमतपोऽनुष्ठायिनां महादुःखोत्पत्तितो मनः खेदसद्भावात्कथं निर्वाणप्राप्तिरिति वदन्तं प्रत्याह—

आत्मदेहान्तरज्ञानजनिताल्हादनिर्वृतः ।
तपसा दुष्कृतं घोरं भुञ्जानोऽपि न खिद्यते ॥ ३४ ॥

टीका—आत्मा च देहश्च तयोरन्तरज्ञानं भेदज्ञानं तेन जनितश्चासावा-

---

(सः) वह (परमं तपः तप्त्वापि) घोर तपश्चरण करके भी (निर्वाणं) मोक्षको (न लभते) प्राप्त नहीं करता है।

भावार्थ—संसारमें दुःखका मूल कारण आत्मज्ञानका अभाव है। जब तक यह अज्ञान बना रहता है तबतक दुःखोंसे छुटकारा नहीं मिलता। इसी कारण जो पुरुष आत्माके वास्तविक स्वरूपको नहीं पहचानता—विनश्वर पुद्गल पिण्डमय शरीरको ही आत्मा जाना है—वह कितना ही घोर तपश्चरण क्यों न करे मुक्तिको नहीं पा सकता है; क्योंकि मुक्तिके लिये जिससे मुक्त होना है और जिसको मुक्त होना है दोनोंका भेदज्ञान आवश्यक है। जब मूलमें ही भूल हो तब तपश्चरण क्या सहायता पहुँचा सकता है। ऐसे ही लोगोंकी मुक्ति-उपासना बहुधा अन्य बाह्य पदार्थोंकी तरह सांसारिक विषय-सुखका ही साधन बन जाती है और इस लिये घोरातिघोर तपश्चरणद्वारा शरीरको अनेक प्रकारके कष्ट देते और सुखाते हुए भी वे कर्मबंधनसे छूट नहीं पाते, प्रत्युत अपने उस बाल तपश्चरणके कारण संसारमें ही परिभ्रमण करते रहते हैं। अतः आत्मज्ञानपूर्वक तपश्चरण करना ही सार्थक और सिद्धिका कारण है। किसी कविने ठीक कहा—

"चेतन चित परिचय बिना, जप तप सबै निरत्थ।
कण बिन तुष जिम फटकतैं, कछु न आवे हत्थ ॥ ३३॥

यदि कोई आशंका करे कि मुक्तिके लिये घोर तपश्चरण करने वालोंके महादुःखोंकी उत्पत्ति होती है और उस दुःखोत्पत्तिसे चित्तमें बराबर खेद बना रहता है तब उनको मुक्तिकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? उसके उत्तरमें कहते हैं:—

अन्वयार्थ—(आत्मदेहान्तरज्ञानजनिताह्लादनिर्वृतः) आत्मा और शरीर-

ह्लादश्च परमप्रसत्तिस्तेन निर्वृत्तः सुखीभूतः सन् । तपसा द्वादशविधेन कृत्वा । दुष्कृतं घोरं भुञ्जानोऽपि दुष्कर्मणो रौद्रस्य विपाकमनुभवन्नपि । न खिद्यते न खेदं गच्छति ॥ ३४ ॥

खेदं गच्छतामात्मस्वरूपोपलम्भाभावं दर्शयन्नाह—

रागद्वेषादिकल्लोलैरलोलं यन्मनो जलम् ।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं स तत्त्वं* नेतरो जनः ॥ ३५ ॥

के भेद-विज्ञानसे उत्पन्न हुए आनन्दसे जो आनन्दित है वह (तपसा) तपके द्वारा—द्वादश प्रकारके तपद्वारा उदयमें लाये हुए (घोरं दुष्कृतं) भयानक दुष्कर्मोंके फलको (भुञ्जानः अपि) भोगता हुआ भी (न खिद्यते) खेदको प्राप्त नहीं होता है।

भावार्थ—जिस समय इस जीवके अनुभवमें शरीर और आत्मा भिन्न भिन्न दिखाई देने लगते हैं, उस समय शारीरिक विषयसुखोंके लिये पर-पदार्थकी सारी चिन्ताएं मिट जाती हैं, उसके फलस्वरूप आत्मा परमानन्दमें लीन हो जाता है—उसे दुःखका अनुभव ही नहीं होता। क्योंकि संसारमें इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, रोग और भूक-प्यासादिजन्य जितने भी दुःख हैं वे सब शरीर के आश्रित हैं—शरीरको आत्मा माननेसे उन सब दुःखोंमें भाग लेना पड़ता है। जब भेद-विज्ञानके द्वारा शरीरसे ममत्व छूटकर आत्मा स्वरूपमें स्थिर हुआ आनन्दमग्न होजाता है तब वह तपश्चरणके कष्टोंको महसूस नहीं करता और न तपश्चरणके अवसर पर आए हुए उपसर्गादिकोंसे खेदखिन्न ही होता है। उसका आनन्द अबाधित रहता है ॥ ३४ ॥

जिन्हें तपश्चरण करते हुए खेद होता है उन्हें आत्मस्वरूपकी उपलब्धि नहीं हुई ऐसा दर्शाते हुए कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यन्मनो जलम्) जिसका मनरूपी जल (रागद्वेषादिकल्लोलैः) राग-द्वेष-काम-क्रोध-मान-माया-लोभादि तरंगोंसे (अलोलं) चंचल नहीं होता (सः) वही पुरुष (आत्मनः तत्त्वम्) आत्माके यथार्थ स्वरूपको (पश्यति) देखता है—अनुभव करता है (तत् तत्त्वम्) उस आत्मतत्त्वको

---

*तत्तत्वं, इति पाठान्तरं 'क' पुस्तके।

टीका—रागद्वेषादय एव कल्लोलास्तैरलोलमचञ्चलमकलुषं वा । यन्मनोजलं मन एव जलं मनोजलं यस्य मनोजलम् यन्मनोजलम् । स आत्मा । पश्यति । आत्मनस्तत्त्वमात्मनः स्वरूपम् । स तत्त्वम् । स आत्मदर्शी तत्त्वं परमात्मस्वरूपम् । नेतरो जनः [अन्यः अनात्मदर्शी जनः] तत्त्वं न भवति ॥ ३५ ॥

किं पुनस्तत्त्वशब्देनोच्यत इत्याह—

अविक्षिप्तं मनस्तत्त्वं विक्षिप्तं भ्रान्तिरात्मनः ।
धारयेत्तदविक्षिप्तं विक्षिप्तं नाश्रयेत्ततः ॥ ३६ ॥

(इतरो जनः) दूसरा रागद्वेषादि कल्लोलोंसे आकुलितचित्त मनुष्य (न पश्यति) नहीं देख सकता है ।

भावार्थ—जिस प्रकार तरंगित जलमें जलस्थित वस्तुका ठीक प्रतिभास नहीं होता—वह दिखाई नहीं देती, उसी प्रकार राग-द्वेषादि कल्लोलोंसे आकुलित हुए सविकल्प मनद्वारा आत्माका दर्शन नहीं होता । आत्मदर्शनके लिये मनको निर्विकल्प बनाना होगा । वास्तवमें निर्विकल्प मन ही आत्मतत्त्व है—सविकल्प मन नहीं ॥ ३५ ॥

आगे इसी आत्मतत्त्वके वाच्यको स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

अन्वयार्थ—(अविक्षिप्तं) रागादि परिणतिसे रहित तथा शरीर और आत्माको एक माननेरूप मिथ्या अभिप्रायसे रहित जो स्वरूपमें स्थिर है मनः) मन है वही (आत्मनः तत्त्वं) आत्माका वास्तविक रूप है और(विक्षिप्तं) रागादिरूप परिणत हुआ एवं शरीर तथा आत्माके भेदज्ञानसे शून्य मन है वह(आत्मनः भ्रान्तिः) आत्माका विभ्रम है—आत्माका निजरूप नहीं है (ततः) इस लिये (तत् अविक्षिप्तं) उस रागद्वेषादिसे रहित मनको (धारयेत्) धारण करना चाहिये और(विक्षिप्तं) रागद्वेषादिसे क्षुब्ध हुए मनको (न आश्रयेत्) आश्रय नहीं देना चाहिये ।

भावार्थ—जिस समय ज्ञानस्वरूप शुद्ध मन, रागादिक विभावभावोंसे रहित होकर शरीरादिक बाह्य पदार्थों से आत्माको भिन्न चैतन्यमय एक

टीका—अविक्षिप्तं रागाद्यपरिणतं देहादिनाऽऽत्मनोऽभेदाध्यवसाय-परिहारेण स्वस्वरूप एव निश्चलतां गतम्। इत्थं भूतं मनः तत्त्वं वास्तवं रूपमात्मनः। विक्षिप्तं उक्तविपरीतं मनो भ्रान्तिरात्मस्वरूपं न भवति। यत एवं तस्मात् धारयेत्। किं तत्? मनः। कथम्भूतम्? अविक्षिप्तं। विक्षिप्तं पुनस्तत् नाश्रयेन्न धारयेत्॥ ३६॥

कुतः पुनर्मनसो विक्षेपो भवति कुतश्चाविक्षेप इत्याह—

अविद्याभ्याससंस्कारैरवशं क्षिप्यते मनः।
तदेव ज्ञानसंस्कारैः स्वतस्तत्त्वेऽवतिष्ठते॥ ३७॥

टीका—शरीरादौ शुचिस्थिरात्मीयादिज्ञानान्यविद्यास्तासामभ्यासः पुनः पुनः प्रवृत्तिस्तेन जनिताः संस्कारा वासनास्तैः कृत्वा। अवशं विषयेन्द्रियाधीनमनात्मायत्तमित्यर्थः। क्षिप्यते विक्षिप्तं भवति मनः। तदेव मनः ज्ञान-संस्कारैरात्मनः शरीरादिभ्यो भेदज्ञानाभ्यासैः। स्वतः स्वयमेव। तत्त्वे आत्म-

---

टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभावरूप अनुभव करने लगता है तथा उसमें तन्मय हो जाता है, उस समय उस अविक्षिप्त एवं निर्विकल्प मनको 'आत्मतत्त्व' समझना चाहिये। परन्तु जब उसमें विकल्प उठने लगते हैं तब उसे आत्मतत्त्व न कहकर 'आत्मभ्रान्ति' कहना चाहिये। अतः आत्म-लाभके इच्छुकोंको चाहिये कि वे अपने मनको डांवांडोल न रखकर स्व-रूपमें स्थिर करनेका दृढ प्रयत्न करें, क्योंकि मनकी अस्थिरता ही रागादि-परिणतिका कारण है॥ ३६॥

किस कारणसे मन विक्षिप्त होता है और किस कारणसे अविक्षिप्त, आगे इसी बातको बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(अविद्याभ्याससंस्कारैः) शरीरादिकको शुचि, स्थिर और आत्मीय मानने रूप जो अविद्या अज्ञान है उसके पुनः पुनः प्रवृत्तिरूप अभ्याससे उत्पन्न हुए संस्कारों द्वारा (मनः) मन (अवशं) स्वाधीन न रह कर (क्षिप्यते) विक्षिप्त हो जाता है—रागी द्वेषी बन जाता है और (तदेव) वही मन (ज्ञानसंस्कारैः) आत्म-देहके भेद विज्ञानरूप विद्याके संस्कारों-द्वारा (स्वतः) स्वयं ही (तत्त्वे) आत्मस्वरूपमें (अवतिष्ठते) स्थिर हो जाता है।

स्वरूपे अवतिष्ठते ॥ ३७ ॥

चित्तस्य विक्षेपेऽविक्षेपे च फलं दर्शयन्नाह—

अपमानादयस्तस्य विक्षेपो यस्य चेतसः ।
नापमानादयस्तस्य न क्षेपो यस्य चेतसः ॥ ३८ ॥

टीका—अपमानो महत्वखंडनं अवज्ञा च स आदिर्येषां मदेर्ष्यामात्सर्यादीनां ते अपमानादयो भवन्ति । यस्य चेतसो विक्षेपो रागादिपरिणतिर्भवति । यस्य पुनश्चेतसो न क्षेपो विक्षेपो नास्ति । तस्य नापमानादयो भवन्ति ॥ ३८ ॥

अपमानादीनां चापगम उपायमाह—

यदा मोहात्प्रजायेते रागद्वेषौ तपस्विनः ।
तदैव भावयेत्स्वस्थमात्मानं शाम्यतः क्षणात् ॥ ३९ ॥

भावार्थ—मनके विक्षिप्त होनेका वास्तविक कारण अज्ञान है और उसके अविक्षिप्त रहनेका कारण है ज्ञानाभ्यास । अतः परद्रव्यमें आत्मबुद्धि आदिरूप अज्ञानके संस्कारोंको हटाना चाहिये और स्वपरभेदविज्ञानके अभ्यासरूप ज्ञानके संस्कारोंको बढ़ाना चाहिये जिससे स्वरूपकी उपलब्धि एवं आत्मस्वरूपमें स्थिति हो सके ॥ ३७ ॥

चित्तके विक्षिप्त और अविक्षिप्त होने पर फल विशेषको दर्शाते हुए कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यस्य चेतसः) जिसके चित्तका (विक्षेपः) रागादिरूप परिणमन होता है (तस्य) उसीके (अपमानादयः) अपमानादिक होते हैं। (यस्य चेतसः) जिसके चित्तका (क्षेपः न) राग-द्वेषादिरूप परिणमन नहीं होता (तस्य) उसके (अपमानादयः न) अपमान--तिरस्कारादि नहीं होते हैं।

भावार्थ—जब तक चित्तमें राग द्वेषादिक विभावरूप कुत्सित संस्कारोंका सम्बन्ध रहता है तभी तक मन साधारणसे भी बाह्य निमित्तोंको पाकर क्षुभित हो जाता है और अमुक पुरुषने मेरा मान भंग किया, अमुकने मेरा तिरस्कार किया, मुझे नीचा दिखाया इत्यादि कल्पनाएं करके दुःखित होता है। परन्तु जब विक्षेपका मूलकारण राग-द्वेष-मोह-भाव दूर हो जाता है तब वह अपने अपमानादिकको महसूस नहीं करता और न उस प्रकारकी कल्पनाएं ही उसे सताती हैं ॥ ३८ ॥

टीका—मोहान्मोहनीयकर्मोदयात् । यदा प्रजायेते उत्पद्येते । कौ ? रागद्वेषौ । कस्य ? तपस्विनः । तदैव रागद्वेषोदयकाल एव । आत्मानं स्वस्थं बाह्यविषयाद्व्यावृत्तस्वरूपस्थं भावयेत् । शाम्यत उपशमं गच्छतः । राग-द्वेषौ । क्षणात् क्षणमात्रेण ॥ ३९ ॥

तत्र रागद्वेषयोर्विषयं विपक्षं च दर्शयन्नाह—

यत्र काये मुनेः प्रेम ततः प्रच्याव्य देहिनम् ।
बुद्धया तदुत्तमे काये योजयेत्प्रेम नश्यति ॥ ४० ॥

अब अपमानादिकके दूर करनेका उपाय बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(यदा) जिस समय (तपस्विनः) किसी तपस्वी अन्तरात्माके (मोहात्) मोहनीय कर्मके उदयसे (रागद्वेषौ) राग और द्वेष (प्रजायेते) उत्पन्न हो जावें (तदा एव) उसी समय वह तपस्वी (स्वस्थं आत्मानं) अपने शुद्ध आत्मस्वरूपको (भावयेत्) भावना करे । इससे वे रागद्वेषादिक (क्षणात्) क्षणभरमें (शाम्यतः) शांत हो जाते हैं ।

भावार्थ—इन राग, द्वेष, काम, क्रोध, मान, माया और लोभादिरूप कुभावोंकी उत्पत्तिका मूल कारण अज्ञान है । शरीर और आत्माका भेद-विज्ञान न होनेसे ही ये मनोविकार चित्तको निश्चल वृत्तिको चलायमान कर देते हैं । कुभावोंके विनाशका एकमात्र उपाय आत्मस्वरूपका चिंतन करना है । जैसे ग्रीष्मकालीन सूर्यकी प्रचण्ड किरणोंके तापसे संतप्त हुए मानवके लिये शीतल जलका पान, स्नान, चन्दनादिकका लेप और वृक्षकी सघन छायाका आश्रय उसके उस तापको दूर करनेमें समर्थ होता है, उसी प्रकार मोहरूपी सूर्यकी प्रचण्ड कषायरूपी किरणोंसे संतप्त हुए अन्तरात्माके लिये अपने शुद्ध स्वरूपका चिंतन ही उस तापसे छुड़ानेका एक मात्र उपाय है ॥ ३९ ॥

अब उन राग और द्वेषके विषय तथा विपक्षको दिखाते हुए कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यत्र काये) जिस शरीरमें (मुनेः) मुनिका—अन्तरात्माका (प्रेम) प्रेम-स्नेह है (ततः) उससे (बुद्धया) भेद विज्ञानके आधार पर

टीका—यत्रात्मीये परकीये वा काये । वा शरीरेन्द्रियविषयसङ्घाते । मुनेः प्रेम स्नेहः । ततः कायात् प्रच्याव्य व्यावर्त्य । देहिनं आत्मानम् । कया ? बुद्धया विवेकज्ञानेन । पश्चात्तदुत्तमे काये तस्मात् प्रागुक्तकायादुत्तमे चिदानन्दमये । काये आत्मस्वरूपे । याजयेत् । कया कृत्वा ? बुद्धया अन्तर्दृष्टया । ततः किं भवति ? प्रेम नश्यति कायस्नेहो न भवति ॥४०॥

तस्मिन्नष्टे किं भवतीत्याह—

आत्मविभ्रजं दुःखमात्मज्ञानात्प्रशाम्यति ।
नायतास्तत्र निर्वान्ति कृत्वापि परमं तपः ॥ ४१ ॥

(देहिनम) आत्माको (प्रच्याव्य) पृथक् करके (तदुत्तमे काये) उस उत्तम चिदानन्दमयकायमें—आत्मस्वरूपमें (योजयेत्) लगावे। ऐसा करनेसे (प्रेम नश्यति) बाह्य शरीर और इन्द्रियविषयोंमें होनेवाला प्रेम नष्ट होजाता है।

भावार्थ—जब तक इस जीवको अपने निजानन्दमय निराकुल शांत उपवनमें क्रीडा करनेका अवसर नहीं मिलता, तब तक ही यह जीव अस्थि, मांस और मल-मूत्रसे भरे हुए अपावन घृणित स्त्री आदिके शरीरमें और अन्य पांच इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त रहता है; किन्तु जब दर्शनमोहादिके उपशम, क्षय, क्षयोपशमसे इसके चित्तमें विवेक-ज्ञान जागृत होजाता है तब स्व-पर स्वरूपका ज्ञायक होकर अपने ही प्रशान्त एवं निजानन्दमय सुधा रसका पान करने लगता है और बाह्य-इन्द्रियोंके पराधीन विषयोंको हेय समझ कर उदासीन होजाता है अथवा उनका सर्वथा त्याग कर निर्ग्रंथ साधु बन जाता है और घोर तपश्चरणादि-के द्वारा आत्माकी वास्तविक शुद्धि करके सच्चे स्वाधीन एवं अविनाशी आत्मपदको प्राप्त कर लेता है ॥ ४० ॥

उस भ्रमात्मक प्रेमके नष्ट होनेपर क्या होता है उसे बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(आत्मविभ्रजं) शरीरादिकमें आत्मबुद्धिरूप विभ्रमसे उत्पन्न होने वाला (दुखं) दुख कष्ट (आत्मज्ञानात्) शरीरादिसे भिन्नरूप आत्मस्वरूपके अनुभव करनेसे (प्रशाम्यति) शांत होजाता है। अतएव जो पुरुष (तत्र) भेदविज्ञानके द्वारा आत्मस्वरूपकी प्राप्ति करनेमें (अयताः)

टीका—आत्मविभ्रजं आत्मनो विभ्रमोऽनात्मशरीरादावात्मेति ज्ञानं । तस्माज्जातं यत् दुःखं तत्प्रशाम्यति । कस्मात् ? आत्मज्ञानात् शरीरादिभ्यो भेदेनात्मस्वरूपवेदनात्। ननु दुर्धरतपोऽनुष्ठानान्मुक्तिसिद्धेरतस्तद्दुःखोपशमो न भविष्यतीति वदन्तं प्रत्याह—नेत्यादि। तत्र आत्मस्वरूपे अयताः अयत्नपराः। न निर्वान्ति न निर्वाणं गच्छंति सुखिनो वा न भवन्ति । कृत्वापि तप्त्वाऽपि । किं तत् ? परमं तपः दुर्द्धरानुष्ठानम् ।। ४१ ।।

तच्च कुर्वाणो बहिरात्मा अन्तरात्मा च किं करोतीत्याह—

शुभं शरीरं दिव्यांश्च विषयानभिवांच्छति ।
उत्पन्नात्ममतिर्देहे तत्त्वज्ञानी ततश्च्युतिम् ।। ४२ ।।

टीका—देहे उत्पन्नात्ममतिर्बहिरात्मा । अभिवाञ्छति अभिलषति । किं तत् ? शुभं शरीरं । दिव्यांश्च उत्तमान् स्वर्गसम्बधिनो वा विषयान् ।

प्रयत्न नहीं करते वे (परमं) उत्कृष्ट एवं दुर्द्धर (तपं) तपको (कृत्वापि) करके भी (न निर्वान्ति) निर्वाणको प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं होते हैं।

भावार्थ—कर्मबंधनसे छूटनेके लिये आत्मज्ञानपूर्वक किया हुआ इच्छा-निरोधरूप तपश्चरण ही कार्यकारी है। आत्मज्ञानसे शून्य केवल शरीरको कष्ट देने वाले तपश्चरण तपश्चरण नहीं हैं—संसारपरिभ्रमणके ही कारण हैं। उनसे आत्मा कभी भी कर्मोंके बंधनसे छूट नहीं सकता और न स्वरूपमें ही स्थिर हो सकता है। उसकी कष्ट परम्परा बढ़ती ही चली जाती है ।। ४१ ।।

तपको करके बहिरात्मा क्या चाहता है और अंतरात्मा क्या चाहता है, इसे दिखाते हैं—

अन्वयार्थ—(देहे उत्पन्नात्ममतिः) शरीरमें जिसको आत्मत्वबुद्धि उत्पन्न होगई है ऐसा बहिरात्मा तप करके (शुभं शरीरं च) सुंदर शरीर और (दिव्यान् विषयान्) उत्तमोत्तम अथवा स्वर्गके विषयभोगोंको (अभि-वाञ्छति) चाहता है और (तत्त्वज्ञानी) ज्ञानी अन्तरात्मा (ततः) शरीर और तत्संबंधी विषयोंसे (च्युतिम्) छूटना चाहता है।

अन्तरात्मा किं करोतीत्याह—तत्त्वज्ञानी ततश्च्युतिम्। तत्त्वज्ञानी विवेकी अन्तरात्मा। ततः शरीरादेः। च्युतिं व्यावृत्तिं मुक्तिरूपां अभिवाञ्छति ॥४२॥

तत्त्वज्ञानीतरयोर्बन्धकत्वाबन्धकत्वे दर्शयन्नाह—

परत्राहम्मतिः स्वस्माच्च्युतो बध्नात्यसंशयम्।
स्वस्मिन्नहम्मतिश्च्युत्वा परस्मान्मुच्यते बुधः ॥ ४३ ॥

टीका—परत्र शरीरादौ अहम्मतिरात्मबुद्धिर्बहिरात्मा। स्वस्मादात्मस्वरूपात्। च्युतो भ्रष्टः सन्। बध्नाति कर्मबन्धनबद्धं करोत्यात्मानं। असंशयं यथा भवति तथा नियमेन बध्नातीत्यर्थः। स्वस्मिन्नात्मस्वरूपे अहम्मतिः बुद्धोऽन्तरात्मा। परस्माच्छरीरादेः। च्युत्वा पृथग्भूत्वा। मुच्यते सकलकर्मबन्धरहितो भवति ॥ ४३ ॥

भावार्थ—अज्ञानी बहिरात्मा स्वर्गादिककी प्राप्तिको ही परमपदकी प्राप्ति समझता है और इसी लिये स्वर्गादिकके मिलनेकी लालसामें पंचाग्नि आदि शरीरको क्लेश देने वाले तप करता है। प्रत्युत इसके, आत्मज्ञानी अन्तरात्माकी ऐसी धारणा नहीं होती, वह सांसारिक विषयभोगोंमें अपना स्वार्थ नहीं देखता—उन्हें दुःखदाई और कष्टकर जानता है—और इस लिये इन देहभोगोंसे ममत्व छोड़कर दुर्धर तपश्चरण करता हुआ शरीरादिकसे आत्माको भिन्न करनेका परम यत्न करता है—तपश्चरणके द्वारा इन्द्रिय और कषायों पर विजय पाकर अपने ध्येयकी सिद्धि कर लेता है ॥ ४२ ॥

अब यह बतलाते हैं कि बहिरात्मा और अन्तरात्मामें कर्मबन्धनका कर्ता कौन है—

अन्वयार्थ—(परत्राहम्मतिः) शरीरादिक परपदार्थोंमें जिसकी आत्मबुद्धि हो रही है ऐसा बहिरात्मा (स्वस्मात्) अपने आत्मस्वरूपसे (च्युतः) भ्रष्ट हुआ (असंशयम्) निःसन्देह (बध्नाति) अपनेको कर्म बन्धनसे बद्ध करता है और (स्वस्मिन्नहंमतिः) अपने आत्माके स्वरूपमें ही आत्मबुद्धि रखने वाला (बुधः) अन्तरात्मा (परस्मात्) शरीरादिक परके सम्बंधसे (च्युत्वा) च्युत होकर (मुच्यते) कर्म बन्धनसे छूट जाता है।

भावार्थ—बन्धका कारण वास्तवमें रागादिक भाव है और वह तभी

यत्राहम्मतिर्बहिरात्मनो जाता तत्तेन कथमध्यवसीयते ? यत्र चान्तरात्मनस्तत्तेन कथमित्याशंक्याह—

दृश्यमानमिदं मूढस्त्रिलिङ्गमवबुध्यते ।
इदमित्यवबुद्धस्तु निष्पन्नं शब्दवर्जितम् ॥ ४४ ॥

टीका—दृश्यमानं शरीरादिकं । किं विशिष्टं ? त्रिलिङ्गं त्रीणि स्त्रीपुंनपुंसकलक्षणानि लिङ्गानि यस्य तत् दृश्यमानं त्रिलिङ्गं सत् । मूढो बहिरात्मा । इदमात्मतत्त्वं त्रिलिङ्गं मन्यते दृश्यमानादभेदाध्यवसायेन । यः पुनरवबुद्धोऽन्तरात्मा स इदमात्मतत्त्वमित्येवं मन्यते । न पुनस्त्रिलिङ्गतया । तस्याः शरीरधर्मतया आत्मस्वरूपत्वाभावात् । कथम्भूतमिदमात्मस्वरूपं ? निष्पन्नमनादिसंसिद्धम् तथा शब्दवर्जितं विकल्पाभिधानाऽगोचरम् ॥ ४४ ॥

बनता है जब आत्मा अपने स्वरूपका ठीक अनुभव नहीं करता—उसे भूल कर शरीरादिक पर-पदार्थोंमें आत्म-बुद्धि धारण करता है। अन्तरात्मा चूंकि अपने आत्मस्वरूपका ज्ञाता होता है, इससे वह अपने आत्मासे भिन्न दूसरे पदार्थोंमें आत्मबुद्धि धारण नहीं करता—फलतः उसकी परपदार्थोंमें कोई आसक्ति नहीं होती। इसीसे वह कर्मोंके बंधनसे नहीं बंधता, किन्तु उससे छूट जाता है ॥ ४३ ॥

बहिरात्माकी जिस पदार्थमें आत्मबुद्धि हो गई है उसे वह कैसा मानता है और अन्तरात्मा की जिसमें आत्मबुद्धि उत्पन्न हो गई है उसे वह कैसा अनुभव करता है, आगे इसी आशंकाका निरसन करते हुए कहते हैं—

अन्वयार्थ—(मूढः) अज्ञानी बहिरात्मा (इदं दृश्यमानं) इस दिखाई देने वाले शरीरको (त्रिलिंगं अवबुध्यते) स्त्री-पुरुष-नपुंसकके भेदसे यह आत्मतत्त्व त्रिलिङ्ग रूप है ऐसा मानता है; किन्तु (अवबुद्धः) आत्मज्ञानी अंतरात्मा (इदं) यह आत्मतत्त्व है—त्रिलिङ्गरूप आत्मतत्त्व नहीं है और वह (निष्पन्नं) अनादि संसिद्ध है तथा (शब्दवर्जितम्) नामादिक विकल्पोंसे रहित है (इति) ऐसा समझता है।

भावार्थ—अज्ञानी जीवको शरीरसे भिन्न आत्माकी प्रतीति नहीं

ननु यद्यन्तरात्मैवात्मानं प्रतिपाद्यते तदा कथं पुमानहं गौरोऽहमित्यादि-रूपं तस्य कदाचिदभेदभ्रांतिः स्यात् इति वदन्तं प्रत्याह—

जानन्नप्यात्मनस्तत्त्वं विविक्तं भावयन्नपि ।
पूर्वविभ्रमसंस्काराद् भ्रांतिं भूयोऽपि गच्छति ॥ ४५ ॥

टीका—आत्मनस्तत्त्वं स्वरूपं जानन्नपि। तथा विविक्तं शरीरादिभ्यो-भिन्नं भावयन्नपि उभयत्राऽपिशब्दः परस्परसमुच्चये । भूयोऽपि पुनरपि । भ्रान्तिं गच्छति । कस्मात् ? पूर्वविभ्रमसंस्कारात् पूर्वविभ्रमो बहिरात्मावस्था-भावी शरीरादौ स्वात्मविपर्यासस्तेन जनितः संस्कारो वासना तस्मात् ॥ ४५ ॥

होती, इस लिये वह स्त्री-पुरुष नपुंसकरूप त्रिलिङ्गात्मक शरीरको ही आत्मा मानता है। सम्यग्दृष्टि वस्तुस्वरूपका ज्ञाता है और उसे शरीरसे भिन्न चैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्वकी प्रतीति होती है, इसलिये वह अपने आत्मा को तद्रूप ही अनुभव करता है—त्रिलिङ्गरूप नहीं—और उसे अनादि-सिद्ध तथा निर्विकल्प समझता है ॥ ४४ ॥

यदि कोई कहे कि जब अन्तरात्मा इस तरहसे आत्माका अनुभव करता है तो फिर मैं पुरुष हूँ, मैं गोरा हूँ इत्यादि अभेदरूपकी भ्रान्ति उसे कैसे हो जाती है, इसका उत्तर देते हुए कहते हैं—

अन्वयार्थ—अन्तरात्मा (आत्मनः तत्त्वं) अपने आत्माके शुद्ध चैतन्य स्वरूपको (जानन् अपि) जानता हुआ भी (विविक्तं भावयन् अपि) और शरीरादिक अन्य पर-पदार्थोंसे भिन्न अनुभव करता हुआ भी (पूर्वविभ्रम-संस्कारात्) पहली बहिरात्मावस्थामें होने वाली भ्रान्तिके संस्कारवश (भूयोऽपि) पुनरपि (भ्रान्तिं गच्छति) भ्रांतिको प्राप्त होजाता है।

भावार्थ—यद्यपि अन्तरात्मा अपने आत्माके यथार्थ स्वरूपको जानता है और उसे शरीरादिक पर-द्रव्योंसे भिन्न अनुभव भी करता है फिर भी बहिरात्मावस्थाके चिरकालीन संस्कारोंके जागृत हो उठनेके कारण कभी कभी बाह्य पदार्थोंमें उसे एकत्वका भ्रम हो जाता है। इसीसे अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टि के ज्ञान-चेतना के साथ कदाचित् कर्म-चेतना व कर्मफल-चेतनाका भी सद्भाव माना गया है ॥ ४५ ॥

भूयो भ्रान्तिं गतोऽसौ कथं तां त्यजेदित्याह—

अचेतनमिदं दृश्यमदृश्यं चेतनं ततः ।
क्व रुष्यामि क्व तुष्यामि मध्यस्थोऽहं भवाम्यतः ॥ ४६ ॥

टीका—इदं शरीरादिकं दृश्यमिन्द्रियैः प्रतीयमानं । अचेतनं जडं रोषतोषादिकं कृतं न जानातीत्यर्थः । यच्चेतनमात्मस्वरूपं तददृश्यमिन्द्रियग्राह्यं न भवति । ततः यतो रोषतोषविषयं दृश्यं शरीरादिकमचेतनं चेतनं स्वात्मस्वरूपमदृश्यत्वात्तद्विषयमेव न भवति ततः । क्व रुष्यामि क्व तुष्याम्यहं । अतः यतो रोषतोषयोः कश्चिदपि विषयो न घटते अतः मध्यस्थः उदासीनोऽहं भवामि ॥ ४६ ॥

इदानीं मूढात्मनोऽन्तरात्मनश्च त्यागोपादानविषयं प्रदर्शयन्नाह—

त्यागादाने बहिर्मूढः करोत्यध्यात्ममात्मवित् ।

पुनः भ्रांति को प्राप्त हुआ अन्तरात्मा उस भ्रांति को फिर कैसे छोड़े ? इसे बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—अन्तरात्मा तब अपनी विचार-परिणतिको इस रूप करे कि—(इदं दृश्य) यह जो दृष्टिगोचर होने वाला पदार्थ-समूह है वह सब (अचेतन) चेतनारहित-जड़ है और जो (चेतन) चैतन्यस्वरूप आत्मसमूह है वह (अदृश्यं) इन्द्रियोंके द्वारा दिखाई नहीं पड़ता (ततः) इसलिये (क्व रुष्यामि) मैं किस पर तो क्रोध करूं और (क्व तुष्यामि) किस पर संतोष व्यक्त करूं ? (अतः अहं मध्यस्थः भवामि) ऐसी हालतमें मैं तो अब राग द्वेषके परित्यागरूप मध्यस्थभावको धारण करता हूँ ।

भावार्थ—अन्तरात्माको अपने अनाद्यविद्यारूप भ्रान्त संस्कारों पर विजय प्राप्त करने के लिये सदा ही यह विचार करते रहना चाहिये कि जिन पदार्थोंको मैं इन्द्रियोंके द्वारा देख रहा हूं वे सब तो जड़ हैं—चेतना रहित हैं उनपर रोष-तोष करना व्यर्थ है—वे उसे कुछ समझ ही नहीं सकते—और जो चैतन्य पदार्थ हैं वे मुझे दिखाई नहीं पड़ते—वे मेरे रोष-तोषका विषय ही नहीं हो सकते । अतः मुझे किसीसे राग-द्वेष न रख कर मध्यस्थ भावका ही अवलम्बन लेना चाहिये ॥ ४६ ॥

अब बहिरात्मा और अन्तरात्माके त्याग ग्रहण विषयको स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

नान्तर्बहिरुपादानं न त्यागो निष्ठितात्मनः ॥ ४७ ॥

टीका—मूढो बहिरात्मा त्यागोपादाने करोति । क्व ? बहिर्बाह्ये हि वस्तुनि द्वेषोदयादभिलाषाभावान्मूढात्मा त्यागं करोति रागोदयात्तत्राभिलाषोत्पत्तेरुपादानमिति । आत्मवित् अन्तरात्मा पुनरध्यात्मनि स्वात्मरूप एव त्यागोपादाने करोति । तत्र हि त्यागो रागद्वेषादेरन्तर्जल्पविकल्पादेर्वा । स्वीकारश्चिदानन्दादेः । यस्तुनिष्ठितात्मा कृतकृत्यात्मा तस्य अन्तर्बहिर्वा नोपादानं तथा न त्यागोऽन्तर्बहिर्वा ।

अन्तस्त्यागोपादाने वा कुर्वाणोऽन्तरात्मा कथं कुर्यादित्याह—

अन्वयार्थ—(मूढः) मूर्ख बहिरात्मा (बहिः) बाह्यपदार्थोंका (त्यागादाने करोति) त्याग और ग्रहण करता है अर्थात् द्वेषके उदयसे जिनको अनिष्ट समझता है उनको छोड़ देता है और रागके उदयसे जिन्हें इष्ट समझता है उन्हें ग्रहण कर लेता है, तथा (आत्मवित्) आत्माके स्वरूपका ज्ञाता अन्तरात्मा (अध्यात्मं त्यागादाने करोति) अन्तरंग राग-द्वेषका त्याग करता है और अपने सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्ररूप निजभावोंका ग्रहण करता है । परन्तु (निष्ठितात्मनः) शुद्धस्वरूपमें स्थित जो कृतकृत्य परमात्मा है उसके (अन्तः बहिः) अन्तरंग और बहिरंग किसी भी पदार्थका (न त्यागः) न तो त्याग होता है और (न उपादान) न ग्रहण होता है ।

भावार्थ—बहिरात्मा जीव मोहोदयसे जिन बाह्य पदार्थोंमें इष्ट-अनिष्टकी कल्पना करता है उन्हींमें त्याग और ग्रहणकी क्रिया किया करता है । अन्तरात्मा वस्तुस्थितिका जानने वाला होकर वैसा नहीं करता—वह बाह्य पदार्थोंसे अपनी चित्तवृत्तिको हटाकर अन्तरंगमें ही त्याग-ग्रहणकी प्रवृत्ति किया करता है—रागादि कषाय भावोंको छोड़ता है और अपने शुद्ध चैतन्यरूपको अपनाता है । परन्तु परमात्माके कृतकृत्य हो जानेके कारण, बाह्य हो या अंतरंग किसी भी विषयमें त्याग और ग्रहणकी प्रवृत्ति नहीं होती । वे तो अपने शुद्धस्वरूपमें सदा स्थिर रहते हैं ॥ ४७ ॥

अन्तरात्मा अंतरंगका त्याग और ग्रहण किस प्रकार करे, उसे बतलाते हैं—

युञ्जीत मनसाऽऽत्मानं वाक्कायाभ्यां वियोजयेत् ।
मनसा व्यवहारं तु त्यजेद्वाक्काययोजितम् ॥ ४८ ॥

टीका—आत्मानं युञ्जीत सम्बद्धं कुर्यात् । केन सह ? मनसा मानसज्ञानेन चित्तमात्मेत्यभेदेनाध्यवसेदित्यर्थः । वाक्कायाभ्यां तु पुनर्वियोजयेत् पृथक्कुर्यात् वाक्काययोरात्माभेदाध्यवसायं न कुर्यादित्यर्थः । एतच्च कुर्वाणो व्यवहारं तु प्रतिपादकभावलक्षणं प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपं वा । वाक्काययोजितं वाक्कायाभ्यां योजितं सम्पादितं । केन सह ? मनसा सह मनस्यारोपितं व्यवहारं त्यजेत् चित्तेन न चिन्तयेत् ।

ननु पुत्रकलत्रादिना सह वाक्कायव्यवहारे तु सुखोत्पत्तिः प्रतीयते कथं तत्त्यागो युक्त इत्याह—

जगद्देहात्मदृष्टीनां विश्वास्यं रम्यमेव च ।

अन्वयार्थ—(आत्मानं) आत्माको (मनसा) मनके साथ (युञ्जीत) संयोजित करे—चित्त और आत्माका अभेदरूपसे अध्यवसाय करे (वाक्कायाभ्यां) वचन और कायसे (वियोजयेत्) अलग करे—उन्हें आत्मा न समझे (तु) और (वाक्काययोजितम्) वचन-कायसे किये हुए (व्यवहारं) व्यवहारको(मनसा) मनसे (त्यजेत्) छोड़ देवे—उसमें चित्तको न लगावे ।

भावार्थ—अन्तरंग रागादिकका त्याग और आत्मगुणोंका ग्रहण करनेके लिये अन्तरात्माको चाहिये, कि वह आत्माको मानसज्ञानके साथ तन्मय करे और वचन तथा कायके सर्वकार्योंको छोड़कर आत्मचिंतनमें तल्लीन हो जावे । यदि प्रयोजनवश वचन और कायको क्रिया करनी भी पड़े तो उसे उदासीनभावके साथ अरुचि-पूर्वक कड़वी दवाई पीनेवाले रोगीकी तरह अनासक्तिसे करे ॥ ४८ ॥

यदि कोई कहे कि पुत्र स्त्री आदिके साथ वचनव्यवहार और शरीरव्यवहार करते हुए तो सुख प्रतीत होता है, फिर उस व्यवहारका त्याग करना कैसे युक्ति युक्त कहा जा सकता है ? उसका समाधान करते हुए कहते हैं—

स्वात्मन्येवात्मदृष्टीनां क्व विश्वासः क्व वा रतिः ॥ ४९ ॥

टीका—देहात्मदृष्टीनां बहिरात्मनां जगत् पुत्रकलत्रादिप्राणिगणो विश्वास्यमवञ्चकं। रम्यमेव च रमणीयमेव प्रतिभाति। स्वात्मन्येव स्वस्वरूपे एवात्मदृष्टीनां अन्तरात्मनां। क्व विश्वासः क्व वा रतिः? न क्वापि पुत्रकलत्रादौ तेषां विश्वासो रतिर्वा प्रतिभातीत्यर्थः ॥ ४९ ॥

नन्वेवमाहारादावप्यन्तरात्मनः कथं प्रवृत्तिः स्यादित्याह—

आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम्।
कुर्यादर्थवशात्किंचिद्वाक्कायाभ्यामतत्परः ॥ ५० ॥

अन्वयार्थ—(देहात्मदृष्टीनां) शरीरमें आत्मदृष्टि रखने वाले मिथ्यादृष्टि बहिरात्माओंको (जगत्) यह स्त्री-पुत्र मित्रादिका समूहरूप संसार (विश्वास्यं) विश्वासके योग्य (च) और (रम्यं एव) रमणीय ही मालूम पड़ता है। परन्तु (स्वात्मनि एव आत्मदृष्टीनां) अपने आत्मामें ही आत्मदृष्टि रखने वाले सम्यग्दृष्टि अन्तरात्माओंको (क्व विश्वासः) इन स्त्री-पुत्रादि परपदार्थोंमें कहां विश्वास हो सकता है (वा) और (क्व रतिः) कहां आसक्ति हो सकती है? कहीं भी नहीं।

भावार्थ—जब तक अपने परमानन्दमय चैतन्य स्वरूपका बोध न होकर इन संसारी जीवोंको देहमें आत्मबुद्धि बनी रहती है तब तक इन्हें यह स्त्री-पुत्रादिका समूह अपनेको आत्मस्वरूपसे वंचित रखने वाला ठग-समूह प्रतीत नहीं होता, किन्तु विश्वसनीय, रमणीय और उपकारी जान पड़ता है। परन्तु जिन्हें आत्माका परिज्ञान होकर अपने आत्मामें ही आत्मबुद्धि उत्पन्न हो जाती है उनकी दशा इनसे विपरीत होती है—वे इन स्त्री-पुत्रादिको 'आत्मरूपके चोर चपल ये दुर्गति-पन्थ सहाई' समझने लगते हैं,—किसीको भी अपना आत्मसमर्पण नहीं करते और न किसीमें आसक्त ही होते हैं ॥ ४९ ॥

यदि ऐसा है तो फिर अन्तरात्माकी भोजनादिके ग्रहणमें प्रवृत्ति कैसे हो सकती है? इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

अन्वयार्थ—अन्तरात्माको चाहिये कि वह (आत्मज्ञानात्परं) आत्म-

टीका—चिरं बहुतरं कालं बुद्धौ न धारयेत्। किं तत्? कार्यं। कथम्भूतम्? परमन्यत्। कस्मात्? आत्मज्ञानात्। आत्मज्ञानलक्षणमेव कार्यं बुद्धौ चिरं धारयेदित्यर्थः। परमपि किञ्चिद्वाक्कायाभ्यां कुर्यात्। कस्मात्? अर्थवशात् स्वपरोपकारलक्षणप्रयोजनवशात्। किं विशिष्टः? अतत्परस्तदनासक्तः ॥ ५० ॥

तदनासक्तः कुतः पुनरात्मज्ञानमेव बुद्धौ धारयेन्नशरीरादिकमित्याह—

यत्पश्यामीन्द्रियैस्तन्मे नास्ति यन्नियतेन्द्रियः।
अन्तः पश्यामि सानन्दं तदस्तु ज्योतिरुत्तमम् ॥५१॥

ज्ञानसे भिन्न दूसरे (कार्यं) कार्यको (चिरं) अधिक समय तक (बुद्धौ) अपनी बुद्धिमें (न धारयेत्) धारण नहीं करे। यदि (अर्थवशात्) स्व-परके उपकारादिरूप प्रयोजनके वश (वाक्कायाभ्यां) वचन और कायसे (किंचित् कुर्यात्) कुछ करना ही पड़े तो उसे (अतत्परः) अनासक्त होकर (कुर्यात्) करे।

भावार्थ—आत्महितके इच्छुक अन्तरात्मा पुरुषोंको चाहिये कि वे अपने उपयोगको इधर उधर न भ्रमाकर अपना अधिक समय आत्मचिन्तन में ही लगावें। यदि स्वपरके उपकारादिवश उन्हें वचन और कायसे कोई कार्य करना हो पड़े तो उसे वे अनासक्ति पूर्वक करें—उसमें अपने चित्त को अधिक न लगावें। ऐसा करनेसे वे अपने आत्मस्वरूपसे च्युत नहीं हो सकेंगे और न उनकी शान्ति ही भंग हो सकेगी ॥ ५० ॥

अनासक्त हुआ अन्तरात्मा आत्मज्ञानको ही बुद्धिमें धारण करे—शरीरादिकको नहीं, यह कैसे हो सकता है? उसे बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—अन्तरात्माको विचारना चाहिये कि (यत्) जो कुछ शरीरादि बाह्य पदार्थ (इन्द्रियैः) इन्द्रियोंके द्वारा (पश्यामि) मैं देखता हूँ। (तत्) वह (मे) मेरा स्वरूप (नास्ति) नहीं है, किन्तु (नियतेन्द्रियः) इन्द्रियोंको बाह्य विषयोंसे रोककर स्वाधीन करता हुआ मैं (यत्) जिस (उत्तमं) उत्कृष्ट अतीन्द्रिय (सानन्दं ज्योतिः) आनन्दमय ज्ञान प्रकाशको (अन्तः) अंतरंगमें (पश्यामि) देखता हूँ—अनुभव करता हूँ (तत् मे) वही मेरा वास्तविक स्व-

टीका—यच्छरीरादिकमिन्द्रियैः पश्यामि तन्मे नास्ति मदीयं रूपं तन्न भवति। तर्हि किं तव रूपम्? तदस्तु ज्योतिरुत्तमं ज्योतिर्ज्ञानमुत्तममतीन्द्रियम्। तथा सानन्दं परमप्रसत्तिसञ्जातसुखसमन्वितम्। एवं विधं ज्योतिरन्तः पश्यामि स्वसंवेदनेनानुभवामि यत्तन्मे स्वरूपमस्तु भवतु। किं विशिष्टः पश्यामि? नियतेन्द्रियो नियन्त्रितेन्द्रियः॥ ५१॥

ननु सानन्दं ज्योतिर्यद्यात्मनोरूपं स्यात्तदेन्द्रियनिरोधं कृत्वा तदनुभवतः कथं दुःखं स्यादित्याह—

सुखमारब्धयोगस्य बहिर्दुःखमथात्मनि।
बहिरेवासुखं सौख्यमध्यात्मं भावितात्मनः॥ ५२॥

रूप (अस्तु) होना चाहिये।

भावार्थ—जब अन्तरात्मा भेदज्ञानकी दृष्टिसे इन्द्रियगोचर बाह्य शरीरादि पदार्थोंको अपना रूप नहीं मानता किन्तु उस परमानन्दमय अतीन्द्रिय ज्ञानप्रकाशको ही अपना स्वरूप समझने लगता है जिसे वह इन्द्रिय व्यापारको रोक कर अन्तरंगमें अवलोकन करता है, तब उसका मन सहज ही में शरीरादि बाह्य पदार्थोंसे हट जाता है—वह उनकी आराधना नहीं करता किन्तु अपने उक्त स्वरूपका ही आराधन किया करता है—उसीको अधिकांशमें अपनी बुद्धिका विषय बनाये रखता है॥ ५१॥

यदि आनन्दमयज्ञान ही आत्माका स्वरूप है तो इन्द्रियोंको रोककर आत्मानुभव करने वालेको दुःख कैसे होता है, यह बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(आरब्धयोगस्य) जिसने आत्मभावनाका अभ्यास करना अभी शुरू किया है उस मनुष्यको—अपने पुराने संस्कारोंकी वजहसे (बहिः) बाह्य विषयोंमें (सुखं) सुख मालूम होता है (अथ) प्रत्युत इसके (आत्मनि) आत्मस्वरूपकी भावनामें (दुःखं) दुःख प्रतीत होता है। किन्तु (भावितात्मनः) यथावत् आत्मस्वरूपको जानकर उसकी भावनाके अच्छे अभ्यासीको (बहिः एव) बाह्य विषयोंमें ही (असुखं) दुःख जान पड़ता है और (अध्यात्मं) अपने आत्माके स्वरूपचिन्तनमें ही (सौख्यम्) सुखका

टीका—बहिर्बाह्यविषये सुखं भवति । कस्य ? आरब्धयोगस्य प्रथममात्मस्वरूपभावनोद्यतस्य । अथ आहो । आत्मनि आत्मस्वरूपे दुःखं तस्य भवति । भावितात्मनो यथावद्विदितात्मस्वरूपे कृताभ्यासस्य । बहिरेव बाह्यविषयेष्वेवाऽसुखं भवति । अथ आहो । सौख्यं अध्यात्मं तस्याध्यात्मस्वरूप एव भवति ॥ ५२ ॥

तद्भावनाचेत्थं कुर्यादित्याह—

तद्ब्रूयात्तत्परान्पृच्छेत्तदिच्छेत्तत्परो भवेत् ।
येनाऽविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं व्रजेत् ॥५३॥

अनुभव होता है ।

भावार्थ—वास्तवमें आत्मानुभवन तो सुखका ही कारण है और इन्द्रिय-विषयानुभवन' दुःखका; परन्तु जिन्हें अपने आत्माका यथेष्ट ज्ञान नहीं हुआ, जो अपने वास्तविक सुखस्वरूपको पहचानते ही नहीं और जिन्होंने आत्मभावनाका अभ्यास अभी प्रारंभ ही किया है उन्हें अपने इन्द्रिय-विषयोंका निरोधकर आत्मानुभवन करनेमें कुछ कष्ट जरूर होता है और पूर्व संस्कारोंके वश विषय-सुख रुचता भी है, जो बहुत कुछ स्वाभाविक हो है। आत्माकी भावना करते करते जब किसीका अभ्यास परिपक्व होजाता है और यह सुदृढ निश्चय होजाता है कि सुख मेरे आत्माका ही स्वरूप है—वह आत्मासे बाहर दूसरे पदार्थोंमें कहीं भी नहीं है, तब उसकी हालत पलट जाती है—वह अपने आत्मस्वरूपके चिन्तनमें ही परमसुखका अनुभव करने लगता है और उसे बाह्य इन्द्रिय-विषय दुःखकारी तथा आत्मविस्मृतिके कारण जान पड़ते हैं, और इस लिये वह उनसे अलग अथवा अलिप्त रहना चाहता है ॥ ५२ ॥

अब वह आत्मस्वरूपको भावना किस तरह करनी चाहिये उसे बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(तत् ब्रूयात्) उस आत्मस्वरूपका कथन करे—उसे दूसरोंको बतलावे (तत् परान् पृच्छेत्) उस आत्मस्वरूपको दूसरे आत्मानुभवी पुरुषोंसे—विशेष ज्ञानियोंसे—पूछे (तत् इच्छेत्) उस आत्मस्वरूकी इच्छा करे—उसकी प्राप्तिको अपना इष्ट बनाए और (तत्परः भवेत्) उस आत्म-

टीका—तत् आत्मस्वरूपं ब्रूयात् परं प्रतिपादयेत्। तदात्मस्वरूपं परान् विदितात्मस्वरूपान् पृच्छेत्। तथा तदात्मस्वरूपं इच्छेत् परमार्थतः सन् मन्येत। तत्परो भवेत् आत्मस्वरूपभावनादरपरो भवेत्। येनात्मस्व-रूपेणेत्थं भावितेन। अविद्यामयं स्वरूपं बहिरात्मस्वरूपम्। त्यक्त्वा विद्या-मयं रूपं परमात्मस्वरूपं व्रजेत् ॥ ५३ ॥

ननु वाक्कायव्यतिरिक्तस्यात्मनोऽसम्भवात् तद् ब्रूयादित्याद्ययुक्तमिति वदन्तं प्रत्याह—

शरीरे वाचि चात्मानं सन्धत्ते वाक्शरीरयोः।
भ्रान्तोऽभ्रान्तः पुनस्तत्त्वं पृथगेषांनिबुध्यते ॥ ५४ ॥

स्वरूपकी भावनामें सावधान हुआ आदर बढ़ावे (येन) जिससे (अविद्या-मयं रूपं) यह अज्ञानमय बहिरात्मरूप (त्यक्त्वा) छूट कर (विद्यामयं व्रजेत्) ज्ञानमय परमात्मस्वरूपकी प्राप्ति होवे।

भावार्थ—किसीका इकलौता प्रियपुत्र यदि खोजावे अथवा बिना कहे घरसे निकल जावे तो वह मनुष्य जिस प्रकार उसको ढूंढ खोज करता है, दूसरों पर उसके खोजानेकी बात प्रकट करता है, जानकारोंसे पूछता है कि कहीं उन्होंने उसे देखा है क्या? उसे पाजानेकी तीव्र इच्छा रखता है और बड़ी उत्सुकताके साथ उसकी बाट देखता रहता है—एक मिनटके लिये भी उसका पुत्र उसके चित्तसे नहीं उतरता। उसी प्रकार आत्म-स्वरूपके जिज्ञासुओं तथा उसकी प्राप्तिके इच्छुक पुरुषोंको चाहिये कि वे बराबर आत्मस्वरूपकी खोजके लिये दूसरोंसे आत्मस्वरूपकी ही बात किया करें, विशेष ज्ञानियोंसे आत्माकी विशेषताओंको पूछा करें, आत्म-स्वरूपकी प्राप्तिकी निरन्तर भावना भाएं और एक मात्र उसी में अपनी लौ लगाये रक्खें। ऐसा होनेपर उनकी अज्ञानदशा दूर हो जायगी—बहिरात्मावस्था मिट जायगी और वे परमात्मपदको प्राप्त करनेमें समर्थ हो सकेंगे ॥ ५३ ॥

यदि कोई कहे कि वाणी और शरीरसे भिन्न तो आत्माका कोई अलग अस्तित्व है नहीं, तब आत्माकी चर्चा करे—भावना करे इत्यादि कहना युक्त नहीं, ऐसी आशंका करने वालोंके प्रति आचार्य कहते हैं—

टीका—सन्धत्ते आरोपयति । कं आत्मानम् । क्व ? शरीरे वाचि च । काऽसौ ? वाक्शरीरयोर्भ्रान्तो वागात्मा शरीरमात्मेत्येवं विपर्यस्तो बहिरात्मा । तयोरभ्रान्तो यथावत्स्वरूपपरिच्छेदकोऽन्तरात्मा पुनः एतेषां वाक्शरीरात्मनां तत्त्वं स्वरूपं पृथक् परस्परभिन्नं निबुद्ध्यते निश्चिनोति ॥५४॥

एवमवबुद्ध्यमानो मूढात्मा येषु विषयेष्वासक्तचित्तो न तेषु मध्ये किञ्चित्तस्योपकारकमस्तीत्याह—

न तदस्तीन्द्रियार्थेषु यत्क्षेमङ्करमात्मनः ।
तथापि रमते बालस्तत्रैवाज्ञानभावनात् ॥ ५५ ॥

अन्वयार्थ—(वाक्शरीरयोः भ्रान्तः) वचन और शरीरमें जिसकी भ्रान्ति हो रही है—जो उनके वास्तविक स्वरूपको नहीं समझता ऐसा बहिरात्मा (वाचि शरीरे च) वचन और शरीर में—(आत्मानं सन्धत्ते) आत्माका आरोपण करता है अर्थात् वचनको तथा शरीरको आत्मा मानता है (पुनः) किन्तु (अभ्रान्तः) वचन और शरीरमें आत्माकी भ्रान्ति न रखने वाला ज्ञानी पुरुष (एषां तत्त्वं) इन शरीर और वचनके स्वरूपको (पृथक्) आत्मासे भिन्न (निबुध्यते) जानता है ।

भावार्थ—वास्तवमें शरीर और वचन पुद्गलकी रचना हैं, मूर्तिक हैं, जड हैं, आत्मस्वरूपसे विलक्षण हैं । इनमें आत्मबुद्धि रखना अज्ञान है । किन्तु बहिरात्मा चिर मिथ्यात्वरूप कुसंस्कारोंके वश होकर इन्हें आत्मा समझता है, जोकि उसका भ्रम है । अन्तरात्माको जड और चैतन्यके स्वरूपका यथार्थ बोध होता है, इसीसे शरीरादिकमें उसको आत्मपनेकी भ्रान्ति नहीं होती—वह शरीरको शरीर वचनको वचन और आत्माको आत्मा समझता है, एकको दूसरेके साथ मिलाता नहीं ॥ ५४ ॥

इस प्रकार आत्मस्वरूपको न समझने वाला बहिरात्मा जिन बाह्य विषयोंमें आसक्तचित्त होता है उनमें से कोई भी उसका उपकारक नहीं है, ऐसा कहते हैं—

अन्वयार्थ—(इन्द्रियार्थेषु) पांचों इन्द्रियोंके विषयमें (तत्) ऐसा कोई पदार्थ (न अस्ति) नहीं है (यत्) जो (आत्मनः) आत्माका (क्षेमंकर) भला

टीका—इन्द्रियार्थेषु पंचेन्द्रियविषयेषु मध्ये न तत्किञ्चिदस्ति यत् क्षेमङ्करम् । कस्य ? आत्मनः । तथापि यद्यपि क्षेमङ्करं किञ्चिन्नास्ति । रमते रतिं करोति । कोऽसौ ? बालो बहिरात्मा तत्रैव इन्द्रियार्थेष्वेव । कस्मात् ? अज्ञानभावनात् मिथ्यात्वसंस्कारवशात् । अज्ञानं भाव्यते जन्यते येनासावज्ञानभावनो मिथ्यात्वसंस्कारस्तस्मात् ॥ ५५ ॥

तथा अनादिमिथ्यात्वसंस्कारे सत्येवम्भूता बहिरात्मनो भवन्तीत्याह—

चिरं सुषुप्तास्तमसि मूढात्मानः कुयोनिषु ।
अनात्मीयात्मभूतेषु ममाहमिति जाग्रति ॥ ५६ ॥

करने वाला हो । (तथापि) तो भी (बालः) यह अज्ञानी बहिरात्मा (अज्ञानभावनात्) चिरकालीन मिथ्यात्वके संस्कारवश (तत्रैव) उन्हीं इन्द्रियोंके विषयोंमें (रमते) आसक्त रहता है ।

भावार्थ—तत्त्वदृष्टिसे यदि विचार किया जाय तो ये पाँचों ही इन्द्रियोंके विषय क्षणभंगुर हैं, पराधीन हैं, विषम हैं, बंधके कारण हैं, दुःखरूप हैं और बाधासहित हैं—कोई भी इनमें आत्माके लिये सुखकर नहीं; फिर भी यह अज्ञानी जीव उन्हींसे प्रीति करता है, उन्हींकी सम्प्राप्तिमें लगा रहता है और रातदिन उन्हींका राग आलापता है । यह सब अज्ञानभावको उत्पन्न करने वाले मिथ्यात्व-संस्कारका ही माहात्म्य है ॥ ५५ ॥

उस अनादिकालीन मिथ्यात्वके संस्कारवश बहिरात्माओंकी दशा किस प्रकारकी होती है, उसे बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(मूढात्मानः) ये मूर्ख अज्ञानी जीव (तमसि) मिथ्यात्व-रूपी अंधकारके उदयवश (चिरं) अनादि कालसे (कुयोनिषु) नित्य-निगोदादिक कुयोनियोंमें (सुषुप्ताः) सो रहे हैं—अतीव जड़ता को प्राप्त हो रहे हैं । यदि कदाचित् संज्ञी प्राणियोंमें उत्पन्न होकर कुछ जागते भी हैं तो (अनात्मीयात्मभूतेषु मम अहम्) अनात्मीयभूत स्त्री पुत्रादिकमें 'ये मेरे हैं' और अनात्मभूत शरीरादिकोंमें 'मैं ही इन रूप हूँ' (इति जाग्रति) ऐसा अध्यवसाय करने लगते हैं ।

टीका—चिरमनादिकालं मूढात्मानो बहिरात्मानः सुषुप्ता अतीव जडतां गताः। केषु ? कुयोनिषु नित्यनिगोदादिचतुरशीतिलक्षयोनिष्वधिकरणभूतेषु। कस्मिन् सति ते सुषुप्ताः ? तमसि अनादिमिथ्यात्वसंस्कारे सति। एवम्भूतास्ते यदि संज्ञिपूत्पद्य कदाचिद्दैववशात् बुध्यन्ते तदा ममाहमिति जाग्रति। केषु ? अनात्मीयात्मभूतेषु—अनात्मीयेषु परमार्थतोऽनात्मीयभूतेषु पुत्रकलत्रादिषु ममैते इति जाग्रति अध्यवस्यन्ति। अनात्मभूतेषु शरीरादिषु अहमेवैते इति जाग्रति अध्यवस्यन्ति ॥ ५६ ॥

ततो बहिरात्मस्वरूपं परित्यज्य स्वपरशरीरमित्थं पश्येदित्याह—

पश्येन्निरंतरं देहमात्मनोऽनात्मचेतसा।
अपरात्मधियाऽन्येषामात्मतत्त्वे‡ व्यवस्थितः ॥५७॥

भावार्थ—नित्य निगोदादिक निंद्य पर्यायोंमें यह जीव ज्ञानकी अत्यन्त हीनता-वश चिरकाल तक दुःख भोगता है। कदाचित् संज्ञी पंचेन्द्रिय-पर्याय प्राप्त कर कुछ थोड़ा सा ज्ञान लाभ करता भी है तो अनादिकालीन मिथ्यात्वके संस्कारवश जो आत्मीय नहीं ऐसे स्त्री-पुत्रादिकको ये मेरे हैं ऐसे आत्मीय मानकर और जो आत्मभूत नहीं ऐसे शरीरादिको 'यह मैं ही हूँ' ऐसे आत्मभूत मानकर अहंकार ममकारके चक्करमें फंस जाता है और उसके फलस्वरूप रागद्वेषको बढ़ाता हुआ संसार-परिभ्रमण कर महादुःखित होता है ॥ ५६ ॥

अतः बहिरात्म-भावका परित्याग कर अपने तथा परके शरीरको इस रूपमें अवलोकन करे, ऐसा बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—अन्तरात्माको चाहिये कि (आत्मतत्त्वे) अपने आत्मस्वरूपमें (व्यवस्थितः) स्थित होकर (आत्मनः देहं) अपने शरीरको (अनात्मचेतसा) 'यह शरीर मेरा आत्मा नहीं' ऐसी अनात्मबुद्धिसे (निरन्तरं पश्येत्) सदा देखे-अनुभव करे, और (अन्येषां) दूसरे प्राणियोंके शरीरको (अपरात्मधिया) 'यह शरीर परका आत्मा नहीं' ऐसी अनात्मबुद्धिसे (पश्येत्) सदा अवलोकन करे।

‡ 'आत्मतत्त्वव्यवस्थितः' इति पाठान्तरं 'ग' प्रतौ।

टीका—आत्मनो देहमात्मसम्बन्धिशरीरं अनात्मचेतसा ममात्मा न भवतीति बुद्ध्या अन्तरात्मा पश्येत् । निरन्तरं सर्वदा । तथा अन्येषां देहं परेषामात्मा न भवतीति बुद्ध्या पश्येत् । किं विशिष्टः ? आत्मतत्त्वे व्यवस्थितः आत्मस्वरूपनिष्ठः ॥ ५७ ॥

नन्वेवमात्मतत्त्वं स्वयमनुभूय मूढात्मानां किमिति न प्रतिपाद्यते येन तेऽपि तज्जानन्त्विति वदन्तं प्रत्याह—

अज्ञापितं न जानन्ति यथा मां ज्ञापितं तथा ।
मूढात्मानस्ततस्तेषां वृथा मे ज्ञापनश्रमः ॥ ५८ ॥

भावार्थ—अन्तरात्माको चाहिये कि पदार्थके स्वरूपको जैसाका तैसा जाने, अन्यमें अन्यका आरोपण न करे। अनादिकालसे आत्माकी शरीरके साथ एकत्वबुद्धि हो रही है, उनका मोह दूर होना कठिन जानकर आचार्यमहोदय बार बार अनेक युक्तियोंसे उसी बातको समझाकर बतलाते हैं—उनका अभिप्राय यही है कि संयुक्त होने पर भी विवक्षा भेदसे, पुद्गलको पुद्गल और आत्माको आत्मा समझना चाहिये तथा कर्मकृत औपाधिक भावों को कर्मकृत ही मानना चाहिये—आत्माके निजरूप न समझ लेना चाहिये। आत्माका किसी शरीररूप विभाव पर्यायमें स्थिर होना उसकी कर्मोपाधि-जनित अवस्था है—स्वभाव नहीं। शरीरको आत्मा मानना ग्रहको ग्रहवासी अथवा वस्त्रको वस्त्रधारी माननेके समान भ्रम है ॥ ५७ ॥

इस प्रकार आत्मतत्त्वका स्वयं अनुभव करके ज्ञानात्म पुरुष (स्वानुभवमग्न अन्तरात्मा) मूढात्माओं (जड़बुद्धियोंको) आत्मतत्त्व क्यों नहीं बतलाते, जिससे वे भी आत्मस्वरूपके ज्ञायक बनें, ऐसी आशंका करने वालोंके प्रति आचार्य कहते हैं—

अन्वयार्थ—स्वात्मानुभवमग्न अन्तरात्मा विचारता है कि (यथा) जैसे (मूढात्मानः) ये मूर्ख अज्ञानी जीव (अज्ञापितं) बिना बताये हुए (मां) मेरे आत्मस्वरूपको (न जानन्ति) नहीं जानते हैं (तथा) वैसे ही (ज्ञापितं) बतलाये जानेपर भी नहीं जानते हैं। (ततः) इस लिये (तेषां) उन मूढ पुरुषोंको (मे ज्ञापनश्रमः) मेरा बतलानेका परिश्रम (वृथा) व्यर्थ है, निष्फल है।

टीका—मूढात्मनो मां आत्मस्वरूपमज्ञापितमप्रतिपादितं यथा न जानन्ति मूढात्मत्वात् । तथा ज्ञापितमपि मां ते मूढात्मत्वादेव न जानन्ति । ततः सर्वथा परिज्ञानाभावात् । तेषां मूढात्मनां सम्बंधित्वेन वृथा मे ज्ञापनश्रमो विफलो मे प्रतिपादनप्रयासः ॥ ५८ ॥

किंच—

यद् बोधयितुमिच्छामि तन्नाहं यदहं पुनः ।
ग्राह्यं तदपि नान्यस्य तत्किमन्यस्य बोधये ॥५९॥

टीका—यत् विकल्पाधिरूढमात्मस्वरूपं देहादिकं वा बोधयितुं ज्ञापयितुमिच्छामि । तन्नाहं तत्स्वयं नाहमात्मस्वरूपं परमार्थतो भवामि ।

भावार्थ—जो ज्ञानी जीव अन्तर्मुखी होते हैं वे बाह्य विषयोंमें अपने चित्तको अधिक नहीं भ्रमाते—उन्हें तो अपने आत्माके चिन्तन और मननमें लगे रहना ही अधिक रुचिकर होता है। मूढ़ात्माओंके साथ आत्मविषयमें मग़ज़-पच्ची करना उन्हें नहीं भाता। वे इस प्रकार जड़ात्माओंके साथ टक्कर मारनेके अपने परिश्रमको व्यर्थ समझते हैं और समझते हैं कि इस तरह मूढ़ात्माओंके साथ उलझे रहकर कितने ही ज्ञानीजन अपने आत्महित-साधनसे वंचित रह जाते हैं। आत्महित साधन सर्वोपरि मुख्य है, उसे इधर-उधरके चक्करमें पड़कर भुलाना नहीं चाहिये ॥५८॥

और भी वह अन्तरात्मा विचारता है—

अन्वयार्थ—(यत्) जिस विकल्पाधिरूढ आत्मस्वरूपको अथवा देहादिकको (बोधयितुं) समझाने-बुझानेकी (इच्छामि) मैं इच्छा करता हूं-चेष्टा करता हूँ (तत्) वह (अहं) मैं नहीं हूँ—आत्माका वास्तविक स्वरूप नहीं हूँ। (पुनः) और (यत्) जो—ज्ञानानन्दमय स्वयं अनुभव करने योग्य आत्मस्वरूप (अहं) मैं हूँ (तदपि) वह भी (अन्यस्य) दूसरे जीवोंके (ग्राह्यं न) उपदेश द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं है—वह तो स्वसंवेदनके द्वारा अनुभव किया जाता है (तत्) इस लिये (अन्यस्य) दूसरे जीवोंको (किं बोधये) मैं क्या समझाऊँ?

यदहं पुनः यत्पुनरहं चिदानन्दात्मकं स्वसंवेद्यमात्मस्वरूपं । तदपि ग्राह्यं नान्यस्य स्वसंवेदनेन तदनुभूयते इत्यर्थः । तत्किमन्यस्य बोधये तत्तस्मात्किं किमर्थं ग्रन्यस्यात्मस्वरूपं बोधयेहम् ॥ ५६ ॥

बोधितेऽपि चान्तस्तत्त्वे बहिरात्मनो न तत्रानुरागः सम्भवति । मोहोदयात्तस्य बहिरर्थ एवानुरागादिति दर्शयन्नाह—

बहिस्तुष्यति मूढात्मा पिहितज्योतिरन्तरे ।
तुष्यत्यन्तः प्रबुद्धात्मा बहिर्व्यावृत्तकौतुकः ॥६०॥

टीका—बहिः शरीराद्यर्थे तुष्यति प्रीतिं करोति । कोऽसौ ? मूढात्मा । कथम्भूतः ? पिहितज्योतिर्मोहाभिभूतज्ञानः । क्व ? अन्तरे अन्तस्तत्त्व-

---

भावार्थ—तत्त्वज्ञानी अन्तरात्मा अपने उपदेशकी व्यर्थताको सोचता हुआ पुनः विचारता है कि—जिस आत्मस्वरूपको शब्दों द्वारा मैं दूसरोंको बतलाना चाहता हूँ वह तो सविकल्प है—आत्माका शुद्ध स्वरूप नहीं है; और जो आत्माका वास्तविक शुद्ध स्वरूप है वह शब्दों द्वारा बतलाया नहीं जा सकता—स्वसंवेदनके द्वारा ही अनुभव एवं ग्रहण किये जानेके योग्य है; तब दूसरोंको मेरे उपदेश देने से क्या नतीजा ? ॥ ५६ ॥

आत्मतत्त्वके जैसे तैसे समझाये जानेपर भी बहिरात्माका उसमें अनुराग होना संभव नहीं; क्योंकि मोहके उदयसे बाह्य पदार्थोंमें ही उसका अनुराग होना है, इसी विचारको आगे प्रस्तुत करते हैं—

अन्वयार्थ—(अन्तरे पिहितज्योतिः) अन्तरङ्गमें जिसकी ज्ञान ज्योति मोहसे आच्छादित होरही है—जिसे स्वरूपका विवेक नहीं ऐसा (मूढात्मा) बहिरात्मा (बहिः) बाह्यशरीरादि परपदार्थोंमें ही (तुष्यति) संतुष्ट रहता है—आनन्द मानता है; किन्तु (प्रबुद्धात्मा) मिथ्यात्वके उदयाभावसे प्रबोधको प्राप्त होगया है आत्मा जिसका ऐसा स्वरूपविवेकी अन्तरात्मा (बहिर्व्यावृत्तकौतुकः) बाह्यशरीरादि पदार्थोंमें अनुरागरहित हुआ (अन्तः) अपने अन्तरंग आत्मस्वरूपमें ही (तुष्यति) संतोष धारण करता है—मग्न रहता है ।

भावार्थ—मूढात्मा और प्रबुद्धात्माकी प्रवृत्तिमें बड़ा अन्तर होता है । मूढात्मा मोहोदयके वश महाअविवेकी हुआ समझाने पर भी नहीं

विषये । प्रबुद्धात्मा मोहानभिभूतज्ञानः अन्तस्तुष्यति स्वस्वरूपे प्रीतिं करोति। किं विशिष्टः सन् ? बहिर्व्यावृत्तकौतुकः शरीरादौ निवृत्तानुरागः ॥६०॥

कुतोऽसौ शरीरादिविषयं निवृत्तभूषणमण्डनादिकौतुक इत्याह—

न जानन्ति शरीराणि सुखदुःखान्यबुद्धयः ।
निग्रहानुग्रहधियं तथाप्यत्रैव कुर्वते ॥ ६१ ॥

टीका—सुखदुःखानि न जानन्ति । कानि शरीराणि जडत्वात् अबुद्धयो बहिरात्मनः। तथापि यद्यपि न जानन्ति तथापि । अत्रैव शरीरादावेव कुर्वते । कां ? निग्रहानुग्रहधियं द्वेषवशादुपवासादिना शरीरादेः कदर्थनाभिप्रायो निग्रहबुद्धिं रागवशात्कटककटिसूत्रादिना भूषणाभिप्रायोऽनुग्रहबुद्धिम् ॥ ६१ ॥

समझना और बाह्य विषयोंमें ही संतोष मानता हुआ फँसा रहता है। प्रत्युत इसके, प्रबुद्धात्माको अपने आत्मस्वरूपमें लीन रहनेमें ही आनन्द आता है और इसी से वह बाह्य विषयोंसे अपने इन्द्रिय-व्यापारको हटाकर प्रायः उदासीन रहता है ॥ ६० ॥

किस कारण अन्तरात्मा शरीरादिको वस्त्राभूषणादिसे अलंकृत और मंडित करनेमें उदासीन होता है, उसे बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—अन्तरात्मा विचारता है—(शरीराणि) ये शरीर (सुखदुःखानि न जानन्ति) जड़ होनेसे सुखों तथा दुखोंको नहीं जानते हैं (तथापि) तो भी [ये] जो जीव (अत्रैव) इन शरीरोंमें ही (निग्रहानुग्रहधियं) उपवासादि-द्वारा दंडरूप निग्रहकी और अलंकारादिद्वारा अलंकृत करने रूप अनुग्रहकी बुद्धि (कुर्वते) धारण करते हैं [ते] वे जीव (अबुद्धयः) मूढ़ बुद्धि हैं—बहिरात्मा हैं।

भावार्थ—अन्तरात्मा विचारता है कि जब ये शरीर जड़ हैं—इन्हें सुख दुःखका कोई अनुभव नहीं होता और न ये किसीके निग्रह या अनुग्रहको ही कुछ समझ सकते हैं तब इनमें निग्रहानुग्रहकी बुद्धि धारण करना मूढ़ता नहीं तो और क्या है ? उसका यह विचार ही उसे शरीरोंको वस्त्राभूषणादिसे अलंकृत और मंडित करनेमें उदासीन बनाये रखता है—वह उनकी अनावश्यक चिन्ताको अपने हृदयमें स्थान ही नहीं देता ॥ ६१ ॥

यावच्च शरीरादावात्मबुद्धया प्रवृत्तिस्तावत्संसारः तदभावान्मुक्तिरिति-दर्शयन्नाह—

स्वबुद्धया यावद्गृह्णीयात् कायवाक्चेतसां त्रयम् ।
संसारस्तावदेतेषां भेदाभ्यासे तु निर्वृतिः ॥ ६२ ॥

टीका—स्वबुद्धया आत्मबुद्धया यावद् गृह्णीयात् । किं ? त्रयम् । केषाम् ? कायवाक्चेतसां सम्बन्धमिति पाठः । तत्र कायवाक्चेतसां त्रयं कर्तृ । आत्मनि यावत्सम्बन्धं गृह्णीयात्स्वीकुर्यादित्यर्थः । तावत्संसारः । एतेषां कायवाक्चेतसां भेदाभ्यासे तु आत्मनः सकाशात् कायवाक्चेतांसि भिन्नानीति भेदाभ्यासे भेदभावनायां तु पुनर्निर्वृत्तिः मुक्तिः ॥६२॥

शरीरादावात्मनोभेदाभ्यासे च शरीरदृढतादौ नात्मनोदृढतादिकं मन्यते

शरीरादिकमें जब तक आत्मबुद्धिसे प्रवृत्ति रहती है तभी तक संसार है और जब वह प्रवृत्ति मिट जाती है तब मुक्तिकी प्राप्ति होजाती है, ऐसा दर्शाते हुए कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यावत्) जबतक (कायवाक्चेतसां त्रयम्) शरीर, बचन और मन इन तीनोंको (स्वबुद्धया) आत्मबुद्धिसे (गृह्णीयात्) ग्रहण किया जाता है (तावत्) तब तक (संसारः) संसार है (तु) और जब (एतेषां) इन मन बचन, कायका (भेदाभ्यासे) आत्मासे भिन्न होनेरूप अभ्यास किया जाता है तब (निर्वृत्तिः) मुक्तिकी प्राप्ति होती है ।

भावार्थ—जबतक इस जीवकी मन बचन कायमें आत्मबुद्धि बनी रहती है—इन्हें आत्माके ही अंग अथवा अंश समझा जाता है—तबतक यह जीव संसारमें ही परिभ्रमण करता रहता है । किन्तु जब उसकी यह भ्रमबुद्धि मिट जाती है और वह शरीर तथा बचनादिको आत्मासे भिन्न अनुभव करता हुआ अपने उस अभ्यासमें दृढ होजाता है तभी वह संसार बन्धनसे छूटकर मुक्तिको प्राप्त होता है ॥ ६२ ॥

शरीरादिक आत्मासे भिन्न हैं—उनमें जीव नहीं—ऐसा भेदज्ञानका अभ्यास दृढ होजाने पर अन्तरात्मा शरीरकी दृढतादिक बनने पर आत्मा-की दृढतादिक नहीं मानता, इस बातको आगेके चार श्लोकोंमें बतलाते हैं ।

इति दर्शयन् घनेत्यादि श्लोकचतुष्टयमाह—

घने वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न घनं मन्यते तथा ।
घने स्वदेहेऽप्यात्मानं न घनं मन्यते बुधः ॥६३॥

टीका—घने निविडावयवे वस्त्रे प्रावृते सति आत्मानं घनं दृढावयवं यथा बुधो न मन्यते । तथा स्वदेहेऽपि घने दृढे आत्मानं घनं दृढं बुधो न मन्यते ॥ ६३ ॥

***जीर्णे वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न जीर्णं मन्यते तथा ।**
जीर्णे स्वदेहेऽप्यात्मानं न जीर्णं मन्यते बुधः ॥६४॥

टीका—जीर्णे पुराणे वस्त्रे प्रावृते यथाऽऽत्मानं बुधो जीर्णं न मन्यते । तथा जीर्णे वृद्धे स्वदेहेऽपि स्थितमात्मानं न जीर्णं वृद्धमात्मानं मन्यते बुधः ॥ ६४ ॥

अन्वयार्थ—(यथा) जिस प्रकार (वस्त्रे घने) गाढ़ा वस्त्र पहन लेनेपर (बुधः) बुद्धिमान पुरुष (आत्मानं) अपनेको-अपने शरीरको (घनं) गाढ़ा अथवा पुष्ट (न मन्यते) नहीं मानता है (तथा) उसी प्रकार (स्वदेहेऽपि घने) अपने शरीरके भी गाढ़ा अथवा पुष्ट होनेपर (बुधः) अन्तरात्मा (आत्मानं) अपने जीवात्माको (घनं न मन्यते) पुष्ट नहीं मानता है ॥ ६३ ॥

अन्वयार्थ—(यथा) जिस प्रकार (वस्त्रे जीर्णे) पहने हुए वस्त्रके जीर्ण-थोदा-होनेपर (बुधः) बुद्धिमान पुरुष (आत्मानं) अपनेको-अपने शरीरको (जीर्णं न मन्यते) जीर्ण नहीं मानता है (तथा) उसी प्रकार (स्वदेहे अपि जीर्णे) अपने शरीरके भी जीर्ण होजानेपर (बुधः) अन्तरात्मा (आत्मानं) अपने जीवात्माको (जीर्णं न मन्यते) जीर्ण नहीं मानता है ॥ ६४ ॥

---

*'जिरिण वत्थि जेम बुहु देहु ण मरणइ जिरणु ।
देहि जिरिण णाणि तहँ अप्पु ण मरणइ जिरणु ॥ २-१७९ ॥
—परमात्मप्रकाशे, योगीन्दुदेवः

*नष्टे वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न नष्टं मन्यते तथा ।
नष्टे स्वदेहेऽप्यात्मानं न नष्टं मन्यते बुधः ॥६५॥

टीका—प्रावृते वस्त्रे नष्टे सति आत्मानं यथा नष्टं बुधो न मन्यते तथा स्वदेहे विनष्टे कुतश्चित्कारणाद्विनाशं गते आत्मानं न नष्टं मन्यते बुधः ॥ ६५ ॥

‡रक्ते वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न रक्तं मन्यते तथा ।
रक्ते स्वदेहेऽप्यात्मानं न रक्तं मन्यते बुधः ॥ ६६ ॥

टीका—रक्ते वस्त्रे प्रावृते सति आत्मानं यथा बुधो न रक्तं मन्यते तथा स्वदेहेऽपि कुसुमादिना रक्ते आत्मानं रक्तं न मन्यते बुधः ॥ ६६ ॥

अन्वयार्थ—(यथा) जिस तरह (वस्त्रे नष्टे) कपड़ेके नष्ट होजानेपर (बुधः) बुद्धिमान पुरुष (आत्मानं) अपने शरीरको (नष्टं न मन्यते) नष्ट हुआ नहीं मानता है (तथा) उसी तरह (बुधः) अन्तरात्मा (स्वदेहे अपि नष्टे) अपने शरीरके भी नष्ट होजानेपर (आत्मानं) अपने जीवात्माको (नष्टं न मन्यते) नष्ट हुआ नहीं मानता है ॥ ६५ ॥

अन्वयार्थ—(यथा) जिस प्रकार (वस्त्रे रक्ते) पहना हुआ वस्त्र लाल होनेपर (बुधः) बुद्धिमान पुरुष (आत्मानं) अपने शरीरको (रक्तं न मन्यते) लाल नहीं मानता है (तथा) उसी तरह (स्वदेहे अपि रक्ते) अपने शरीरके भी लाल होनेपर (बुधः) अन्तरात्मा (आत्मानं) अपने जीवात्माको (रक्तं न मन्यते) लाल नहीं मानता है ॥ ६६ ॥

भावार्थ—शरीरके साथ वस्त्रकी जैसी स्थिति है वैसी ही स्थिति

---

*वत्थु पणट्ठइ जेम बुहु देहु ण मण्णइ णट्ठु ।
णट्ठे देहे णाणि तहँ अप्पु ण मण्णइ णट्ठु ॥ २-१८० ॥
—परमात्मप्रकाशे, योगीन्दुदेवः

‡रत्तें वत्थे जेम बुहु देहु ण मण्णइ रत्तु ।
देहे रत्तिं णाणि तहँ अप्पु ण मण्णइ रत्तु ॥ २-१७८ ॥
—परमात्मप्रकाशे, योगीन्दुदेवः

एवं शरीरादिभिन्नमात्मानं भावयतोऽन्तरात्मनः शरीरादेः काष्ठादिना तुल्यताप्रतिभासे मुक्तियोग्यता भवतीति दर्शयन्नाह—

यस्य सस्पन्दमाभाति निःस्पन्देन समं जगत् ।
अप्रज्ञमक्रियाभोगं स शमं याति नेतरः ॥६७॥

आत्माके साथ शरीरकी है। पहने जाने वाले वस्त्रके सुदृढ-पुष्ट, जीर्ण-शीर्ण, नष्ट-भ्रष्ट अथवा लाल आदि किसी रंगका होनेके कारण जिस प्रकार कोई भी समझदार मनुष्य अपने शरीरको सुदृढ-पुष्ट, जीर्ण-शीर्ण, नष्ट-भ्रष्ट अथवा लाल आदि रंगका नहीं मानता है, उसी प्रकार शरीरके सुदृढ-पुष्ट, जीर्ण-शीर्ण, नष्ट-भ्रष्ट या लाल आदि रंगका होनेपर कोई भी ज्ञानी मनुष्य अपने आत्माको सुदृढ-पुष्ट, जीर्ण-शीर्ण, नष्ट-भ्रष्ट या लाल आदि रंगका नहीं मानता है। विवेकी अन्तरात्माकी प्रवृत्ति शरीरके साथ वस्त्र-जैसी होती है, इसीसे एक वस्त्रको उतारकर दूसरा वस्त्र पहनने वालेकी तरह उसे मृत्युके समय कोई विषाद या रंज भी नहीं होता ॥६३-६४-६५-६६॥

इस प्रकार शरीरादिकसे भिन्न आत्माकी भावना करनेवाले अन्तरात्माको जब ये शरीरादिक काष्ठ-पाषाणादिके खण्ड-समान प्रतिभासित होने लगते हैं—उनमें चेतनाका अंश भी उसकी प्रतीतिका विषय नहीं रहता—तब उसको मुक्तिकी योग्यता प्राप्त होती है। इसी बातको आगे दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(यस्य) जिस ज्ञानी जीवको (सस्पन्दं जगत्) अनेक क्रियाएँ-चेष्टाएँ करता हुआ शरीरादिरूप यह जगत (निःस्पन्देन समं) निश्चेष्ट काष्ठ पाषाणादिके समान (अप्रज्ञं) चेतना रहित जड और (अक्रियाभोगं) क्रिया तथा सुखादि-अनुभवरूप भोगसे रहित (आभाति) मालूम होने लगता है (सः) वह पुरुष (अक्रियाभोगं शमं याति) परमवीतरागतामय उस शान्तिसुखका अनुभव करता है जिसमें मन-वचन-कायका व्यापार नहीं और न इन्द्रिय-द्वारोंसे विषयका भोग ही किया जाता है (इतरः न) उससे विलक्षण दूसरा बहिरात्मा जीव उस शान्ति सुखको प्राप्त नहीं कर सकता है।

टीका—यस्यात्मनः सस्पन्दं परिस्पन्दसमन्वितं शरीरादिरूपं जगत् आभाति प्रतिभासते। कथम्भूतं ? निःस्पन्देन समं निःस्पन्देन काष्ठपाषाणादिना समं तुल्यं। कुतः तेन तत्समं ? अप्रज्ञं जडमचेतनं यतः। तथा अक्रियाभोगं क्रियापदार्थपरिस्थितिः भोगः सुखाद्यनुभवः तौ न विद्येते यत्र। यस्यैवं तत्प्रतिभासते स किं करोति ? स शमं याति शमं परमवीतरागतां संसारभोगदेहोपरि वा वैराग्यं गच्छति। कथम्भूतं शमं ? अक्रियाभोगमित्येतदत्रापि सम्बंधनीयम्। क्रिया वाक्कायमनोव्यापारः। भोग इन्द्रियप्रणालिकया विषयानुभवनं विषयोत्सवः। तौ न विद्येते यत्र तमित्थंम्भूतं शमं स याति। नेतरः तद्विलक्षणो बहिरात्मा॥ ६७॥

सोप्येवं शरीरादिभिन्नमात्मानं किमिति न प्रतिपद्यत इत्याह—

शरीरकंचुकेनात्मा संवृतज्ञानविग्रहः।
नात्मानं बुध्यते तस्माद्भ्रमत्यतिचिरं भवे॥ ६८॥

टीका—शरीरमेव कंचुकं तेन संवृतः सम्यक् प्रच्छादितो ज्ञानमेव

भावार्थ—जिस समय अन्तरात्मा आत्मस्वरूपका चिन्तन करते-करते अपनेमें ऐसा स्थिर हो जाता है कि उसे यह क्रियात्मक संसार भी लकड़ी पत्थर आदिकी तरह स्थिर तथा चेष्टारहित सा जान पड़ता है— उसकी क्रियाओं चेष्टाओंका उसपर कोई असर नहीं होता—तभी वह वीतरागभावको प्राप्त होता हुआ शान्ति सुखका अनुभव करता है। दूसरा बहिरात्मा जीव उस शान्ति सुखका अधिकारी नहीं है॥ ६७॥

अब बहिरात्मा भी इसी प्रकार शरीरादिसे भिन्न आत्माको क्या जानता नहीं ? इसीको बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(शरीरकंचुकेन) कार्माणशरीररूपी कांचलीसे (संवृतज्ञानविग्रहः आत्मा) ढका हुआ है ज्ञानरूपी शरीर जिसका ऐसा बहिरात्मा (आत्मानं) आत्माके यथार्थ स्वरूपको (न बुध्यते) नहीं जानता है (तस्मात्) उसी अज्ञानके कारण (अतिचिरं) बहुत काल तक (भवे) संसारमें (भ्रमति) भ्रमण करता है।

विग्रहः स्वरूपं यस्य । शरीरसामान्योपादानेऽप्यत्र कार्मणशरीरमेव गृह्यते । तस्यैव मुख्यवृत्त्या तदावरकत्वोपपत्तेः। इत्थंभूतो बहिरात्मा नात्मानं बुध्यते । तस्मादात्मस्वरूपानवबोधात् अतिचिरं बहुतरकालं भवे संसारे भ्रमति ।६८।

यद्यात्मनः स्वरूपमात्मत्वेन बहिरात्मानो न बुद्ध्यन्ते तदा किमात्मत्वेन ते बुद्ध्यन्ते इत्याह—

प्रविशद्गलतां व्यूहे देहेऽणूनां समाकृतौ ।
स्थितिभ्रान्त्या प्रपद्यन्ते तमात्मानमबुद्धयः ॥ ६९ ॥

भावार्थ—इस श्लोकमें 'कंचुक' शब्द उस आवरणका द्योतक है जो शरीरका यथार्थ बोध नहीं होने देता; सर्पके शरीर ऊपरकी कांचली जिस प्रकार सर्पके रंग रूपादिका ठीक बोध नहीं होने देता उसी प्रकार आत्मा-का ज्ञानशरीर जब दर्शन मोहनीयके उदयादिरूप कार्माण वर्गणाओंसे आच्छादित होजाता है तब आत्माके वास्तविक रूपका बोध नहीं होने पाता और इस अज्ञानताके कारण रागादिकका जन्म होकर चिरकाल तक संसारमें परिभ्रमण करना पड़ता है ।

यहांपर इतना और भी जान लेना चाहिये कि कांचलीका दृष्टान्त एक स्थूल दृष्टान्त है । कांचली जिस प्रकार सर्पशरीरके ऊपरी भागपर रहती है उस प्रकारका सम्बन्ध कार्माण-शरीरका आत्माके साथ नहीं है। संसारी आत्मा और कार्माण-शरीरका ऐसा सम्बन्ध है जैसे पानीमें नमक मिल जाता है अथवा कत्था और चूना मिला देनेसे जैसे उनकी लाल परिणति होजाती है। कर्मपरमाणुओंका आत्मप्रदेशोंके साथ एक क्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध होता है, इसी कारण दोनोंके गुण विकृत रहते हैं तथा दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे बहिरात्मा जीव आत्मस्वरूपको समझाये जाने पर भी नहीं समझता । यदि समझता भी है तो भी अन्यथा ही समझता है—आत्माके वास्तविक चिदानंदस्वरूपका अनु-भव उसे नहीं होता । इसी मिथ्यात्व एवं अज्ञानभावके कारण यह जीव अनादिकालसे संसारचक्रमें भ्रमण करता आरहा है और उस वक्त तक बराबर भ्रमण करता रहेगा जब तक उसका यह अज्ञानभाव नहीं मिटेगा ॥ ६८ ॥

टीका—तं देहमात्मानं प्रपद्यन्ते। के ते ? अबुद्धयो बहिरात्मानः। कया कृत्वा ? स्थितिभ्रान्त्या। क ? देहे। कथम्भूते देहे ? व्यूहे समूहे। केषां ? अणूनां परमाणूनां। किं विशिष्टानां ? प्रविशद्गलतां अनुप्रविशतां निर्गच्छतां च। पुनरपि कथम्भूते ? समाकृतौ समानाकारे सदृशा परापरोत्पादेन। आत्मना सहैकक्षेत्रे समानावगाहेन वा। इत्थम्भूते देहे या स्थितिभ्रान्तिः स्थित्या कालान्तरावस्थायित्वेन एकक्षेत्रावस्थानेन वा भ्रान्तिर्देहात्मनोरभेदाध्यवसायस्तया ॥ ६९ ॥

ततो यथावदात्मस्वरूपप्रतिपत्तिमिच्छन्नात्मानं देहाद्भिन्नं भावयेदित्याह—

यदि बहिरात्मा जीवआत्माके यथार्थ स्वरूपको नहीं पहिचानते हैं, तो फिर वे किसको आत्मा जानते हैं ? इसी बातको आगे बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(अबुद्धयः) अज्ञानी बहिरात्मा जीव (प्रविशद्गलतां अणूनां व्यूहे देहे) ऐसे परमाणुओंके समूहरूप शरीरमें जो प्रवेश करते रहते हैं और बाहर निकलते रहते हैं (समाकृतौ) शरीरकी आकृतिके समानरूपमें बने रहने पर (स्थितिभ्रांत्या) कालांतर-स्थायित्व तथा एक क्षेत्रमें स्थिति होनेके कारण शरीर और आत्माको एक समझने रूप जो भ्रान्ति होती है उससे (तम्) उस शरीरको ही (आत्मानं) आत्मा (प्रपद्यन्ते) समझ लेते हैं।

भावार्थ—यद्यपि शरीर ऐसे पुद्गल परमाणुओंका बना हुआ है जो सदा स्थिर नहीं रहते—समय समयपर अगणित परमाणु शरीरसे बाहर निकल जाते हैं और नये नये परमाणु शरीरके भीतर प्रवेश करते हैं, फिर भी चूंकि आत्मा और शरीरका एक क्षेत्रावगाह सम्बंध है और परमाणुओंके इस निकलजाने तथा प्रवेश पानेपर शरीरकी बाह्य आकृतिमें कोई विशेष भेद नहीं पड़ता—वह प्रायः ज्योंकी त्यों ही बनी रहती है—इससे मूढात्माओंको यह भ्रम होजाता है कि यह शरीर ही मैं हूँ-मेरा आत्मा है। उसी भ्रमके कारण मूढ बहिरात्मा प्राणी शरीरको ही अपना रूप (आत्मस्वरूप) समझने लगते हैं। अभ्यन्तर आत्मतत्त्व तक उनकी दृष्टि ही नहीं पहुँचती ॥ ६९ ॥

*गौरः स्थूलः कृशो वाऽहमित्यङ्गेनाविशेषयन् ।
आत्मानं धारयेन्नित्यं केवलज्ञप्तिविग्रहम् ॥ ७० ॥

टीका—गौरोऽहं स्थूलोऽहं कृशोऽहमित्यनेन प्रकारेणाङ्गेन विशेषणेन अविशेषयन् विशिष्टं अकुर्वन्नात्मानं धारयेत् चित्तेऽविचलं भावयेत् नित्यं सर्वदा । कथम्भूतं ? केवलज्ञप्तिविग्रहं केवलज्ञानस्वरूपं । अथवा केवला रूपादिरहिता ज्ञप्तिरेवोपयोग एव विग्रहः स्वरूपं यस्य ॥ ७० ॥

यश्चैवं विधमात्मानमेकाग्रमनसा भावयेत्तस्यैव मुक्तिर्नान्यस्येत्याह—

मुक्तिरेकान्तिकी तस्य चित्ते यस्याचला धृतिः ।
तस्य नैकान्तिकी मुक्तिर्यस्य नास्त्यचला धृतिः ॥ ७१ ॥

ऐसी हालतमें आत्माका यथार्थस्वरूप जाननेकी इच्छा रखने वालोंको चाहिये कि वह शरीरसे भिन्न आत्माकी भावना करें, ऐसा दर्शाते हैं—

अन्वयार्थ—(अहं) मैं (गौरः) गोरा हूँ (स्थूलः) मोटा हूँ (वा कृशः) अथवा दुबला हूँ (इति) इस प्रकार (अंगेन) शरीरके साथ (आत्मानं) अपने को (अविशेषयन्) एकरूप न करते हुए (नित्यं) सदा ही (आत्मानं) अपने आत्माको (केवलज्ञप्तिविग्रहम्) केवलज्ञानस्वरूप अथवा रूपादिरहित उपयोगशरीरी (धारयेत्) अपने चित्तमें धारण करे ॥ ७० ॥

भावार्थ—गोरापन, कालापन, मोटापन, दुबलापन आदि अवस्थाएं पुद्गलकी हैं—पुद्गलसे भिन्न इनका अस्तित्व नहीं है । आत्मा इन शरीरके धर्मोंसे भिन्न एक ज्ञायकस्वरूप है । अतः आत्मपरिज्ञानके इच्छुकोंको चाहिये कि वे अपने आत्माको इन पुद्गलपर्यायोंके साथ एकमेक (अभेदरूप) न करें, बल्कि इन्हें अपना रूप न मानते हुए अपनेको रूपादिरहित केवलज्ञानस्वरूप समझें । इसीका नाम भेदविज्ञान है ॥ ७० ॥

जो इस प्रकार आत्माको एकाग्रचित्तसे भावना करता है उसीको मुक्तिकी प्राप्ति होती है अन्यको नहीं, ऐसा दिखाते हैं—

---

* हउँ गोरउ हउँ सामलउ हउँ जि विभिण्णउ वण्णु ।
हउँ तणु-अंगउ थूलु हउँ एहउँ मुढउ मण्णु ॥ ८० ॥
— परमात्म प्रकाशे, योगीन्दुदेवः

टीका—एकान्तिकी अवश्यम्भाविनी तस्यान्तरात्मनो मुक्तिः। यस्य चित्ते अविचला धृतिः आत्मस्वरूपधारणं स्वरूपविषया प्रसत्तिर्वा। यस्य तु चित्ते नास्त्यचला धृतिस्तस्य नैकान्तिकी मुक्तिः ॥ ७१ ॥

चित्तेऽचलाधृतिश्च लोकसंसर्गं परित्यज्यात्मस्वरूपस्य संवेदनानुभवे सति स्यान्नान्यथेति दर्शयन्नाह—

जनेभ्यो वाक् ततः स्पन्दो मनसश्चित्तविभ्रमाः।
भवन्ति तस्मात्संसर्गं जनैर्योगी ततस्त्यजेत् ॥७२॥

अन्वयार्थ—(यस्य) जिस पुरुषके (चित्ते) चित्तमें (अचला) आत्मस्वरूपकी निश्चल (धृतिः) धारणा है (तस्य) उसकी (एकान्तिकी मुक्तिः) नियमसे मुक्ति होती है। (यस्य) जिस पुरुषकी (अचलाधृतिः नास्ति) आत्मस्वरूपमें निश्चल धारणा नहीं है (तस्य) उसकी (एकान्तिकी मुक्तिः न) अवश्यम्भाविनी मुक्ति नहीं होती है ॥ ७१ ॥

भावार्थ—जब यह जीव आत्मस्वरूपमें डाँवाडोल न रह कर स्थिर हो जाता है तभी मुक्तिको प्राप्त कर सकता है। आत्मस्वरूपमें स्थिरताके बिना मुक्तिकी प्राप्ति होना असंभव है ॥ ७१ ॥

चित्तकी निश्चलता तभी हो सकेगी जब लोक-संसर्गका परित्याग कर आत्मस्वरूपका संवेदन एवं अनुभव किया जावेगा—अन्यथा नहीं हो सकेगा; इसी बातको आगे प्रकट करते हैं—

अन्वयार्थ—(जनेभ्यो) लोगोंके संसर्गसे (वाक्) वचनकी प्रवृत्ति होती है (ततः) वचनकी प्रवृत्तिसे (मनसः स्पन्दः) मनकी व्यग्रता होती है—चित्त चलायमान होता है (तस्मात्) चित्तकी चंचलतासे (चित्तविभ्रमाः भवन्ति) चित्तमें नाना प्रकारके विकल्प उठने लगते हैं—मन क्षुभित होजाता है (ततः) इसलिये (योगी) योगमें संलग्न होनेवाले अन्तरात्मा साधुको चाहिये कि वह (जनैः संसर्गं त्यजेत्) लौकिक जनोंके संसर्गका परित्याग करे—खासकर ऐसे स्थानपर योगाभ्यास करने न बैठे जहां पर कुछ लौकिक जन जमा हों अथवा उनका आवागमन बना रहता हो।

तर्हि तैः संसर्गं परित्यज्याटव्यां निवासः कर्तव्य इत्याशंकां निराकुर्वन्नाह—

ग्रामोऽरण्यमिति द्वेधा निवासोऽनात्मदर्शिनाम्।
दृष्टात्मनां निवासस्तु विविक्तात्मैव निश्चलः॥७३॥

टीका—ग्रामोऽरण्यमित्येवं द्वेधा निवासस्थानं अनात्मदर्शिनामलब्धात्मस्वरूपोपलम्भानां दृष्टात्मनामुपलब्धात्मस्वरूपाणां निवासस्तु विमुक्तात्मैव रागादिरहितो विशुद्धात्मैव निश्चलः चित्तव्याकुलतारहितः॥ ७३ ॥

भावार्थ—आत्मस्वरूपमें स्थिरताके इच्छुक मुमुक्षु पुरुषोंको चाहिये कि वे लौकिक जनोंके संसर्गमें अपनेको प्रायः अलग रक्खें; क्योंकि लौकिक जन जहां जमा होते हैं वहां वे परस्परमें कुछ-न-कुछ बात-चीत किया करते हैं, बोलते हैं और शोर तक मचाते हैं। उनकी इस वचनप्रवृत्तिके श्रवणसे चित्त चलायमान होता है और उसमें नाना प्रकारके संकल्प-विकल्प उठने लगते हैं, जो आत्मस्वरूपकी स्थिरताके बाधक होते हैं—आत्माको अपना अन्तिम ध्येय सिद्ध करने नहीं देते॥ ७२ ॥

तब क्या मनुष्योंका संसर्ग छोड़कर जंगलमें निवास करना चाहिये? इस शंकाका निराकरण करते हुए कहते हैं—

अन्वयार्थ—(अनात्मदर्शिनां) जिन्हें आत्माकी उपलब्धि-उसका दर्शन अथवा अनुभव नहीं हुआ ऐसे लोगोंके लिये (ग्रामः अरण्यम्) यह गांव है यह जंगल है (इति द्वेधा निवासः) इसप्रकार दो तरहके निवासकी कल्पना होती है (तु) किन्तु (दृष्टात्मनां) जिन्हें आत्मस्वरूपका अनुभव होगया है ऐसे ज्ञानी पुरुषोंके लिये (विविक्तः) रागादिरहित विशुद्ध एवं (निश्चलः) चित्तकी व्याकुलतारहित स्वरूपमें स्थिर (आत्मा एव) आत्मा ही (निवासः) रहनेका स्थान है।

भावार्थ—जो लोग आत्मानुभवसे शून्य होते हैं उन्हींका निवासस्थान गांव तथा जंगलमें होता है—कोई गांवको अपनाता है तो दूसरा जंगलसे प्रेम रखता है। गांव और जंगल दोनों ही बाह्य एवं परवस्तुएँ हैं। मात्र जंगलका निवास किसीको आत्मदर्शी नहीं बना देता। प्रत्युत इसके,

अनात्मदर्शिनो दृष्टात्मनश्च फलं दर्शयन्नाह—

देहान्तरगतेर्बीजं देहेऽस्मिन्नात्मभावना ।
बीजं विदेहनिष्पत्तेरात्मन्येवात्मभावना ॥ ७४ ॥

टीका—देहान्तरे भवान्तरे गतिर्गमनं तस्य बीजं कारणं किं ? आत्मभावना । क ? देहेऽस्मिन् अस्मिन् कर्मवशाद्गृहीते देहे । विदेहनिष्पत्तेः विदेहस्य सर्वथादेहत्यागस्य निष्पत्तेर्मुक्तिप्राप्तेर्बीजं स्वात्मन्येवात्मभावना ।७४।

जो आत्मदर्शी होते हैं उनका निवासस्थान वास्तवमें वह शुद्धात्मा होता है जो वीतरागताके कारण चित्तकी व्याकुलताको अपने पास फटकने नहीं देता और इस लिये उन्हें न तो ग्रामवासमें प्रेम होता है और न वनके निवाससे ही—वे दोनोंको ही अपने आत्मस्वरूपसे बहिर्भूत समझते हैं और इसलिये किसीमें भी आसक्तिका रखना अथवा उसे अपना (आत्माका) निवासस्थान मानना उन्हें इष्ट नहीं होता । वे तो शुद्धात्मस्वरूपको ही अपनी विहारभूमि बनाते हैं और उसीमें सदा रमे रहते हैं । ग्रामका निवास उन्हें आत्मदर्शीसे अनात्मदर्शी नहीं बना सकता ॥ ७३ ॥

अनात्मदर्शी और आत्मदर्शी होनेका फल क्या है, उसे दिखाते हैं—

अन्वयार्थ—(अस्मिन् देहे) कर्मोदयवश ग्रहण किये हुए इस शरीरमें (आत्मभावना) आत्माकी जो भावना है—शरीरको ही आत्मा मानना है—वही (देहान्तरगतेः) अन्य शरीर ग्रहणरूप भवान्तरप्राप्तिका (बीजं) कारण है और (आत्मनि एव) अपनी आत्मामें ही (आत्मभावना) आत्माकी जो भावना है—आत्माको ही आत्मा मानना है—वह (विदेहनिष्पत्तेः) शरीरके सर्वथा त्यागरूप मुक्तिका (बीजं) कारण है।

भावार्थ—जो जीव कर्मोदयजन्य इस जड़ शरीरको ही आत्मा समझता है और इसीसे देहभोगोंमें आसक्त रहता है, वह चिरकाल तक नये नये शरीर धारण करता हुआ संसारपरिभ्रमण करता है और इस तरह अनन्त कष्टोंको भोगता है । प्रत्युत इसके, आत्माके निजस्वरूपमें ही जिसकी आत्मत्वकी भावना है वह जीव शीघ्र ही कर्मबन्धनसे छूट-

तर्हि मुक्तिप्राप्तिहेतुः कश्चिद्गुरुर्भविष्यतीति वदन्तं प्रत्याह—

नयत्यात्मानमात्मैव जन्म निर्वाणमेव च* ।
गुरुरात्मात्मनस्तस्मान्नान्योऽस्ति परमार्थतः ॥७५॥

टीका—जन्म संसारं नयति प्रापयति । कं ? आत्मानं । कोऽसौ ? आत्मैव देहादौ दृढात्मभावनावशात् । निर्वाणमेव च आत्मानमात्मैव नयति स्वात्मन्येवात्मबुद्धिप्रकर्षसद्भावात् । यत एवं तस्मात् परमार्थतो गुरुरात्मात्मनः । नान्यो गुरुरस्ति परमार्थतः । व्यवहारेण तु यदि भवति तदा भवतु ॥ ७५ ॥

कर मुक्तिको प्राप्त हो जाता है और सदाके लिये अपने निराबाध सुख-स्वरूपमें मग्न रहता है ॥ ७४ ॥

यदि ऐसा है, तब मुक्तिको प्राप्त कराने के लिये हेतुभूत कोई दूसरा गुरु तो होगा ? ऐसी आशंका करने वालेके प्रति कहते हैं—

अन्वयार्थ—(आत्मा एव) आत्मा ही (आत्मानं) आत्माको (जन्म नयति) देहादिकमें दृढात्मभावनाके कारण जन्म-मरणरूप संसारमें भ्रमण कराता है (च) और (निर्वाणमेव नयति) आत्मामें ही आत्मबुद्धिके प्रकर्ष-वश मोक्ष प्राप्त कराता है (तस्मात्) इस लिये (परमार्थतः) निश्चयसे (आत्मनः गुरुः) आत्माका गुरु (आत्मा एव) आत्मा ही है (अन्यः न अस्ति दूसरा कोई गुरु नहीं है ।

भावार्थ—हितोपदेशक सद्गुरुओंका हितकर उपदेश सुनकर भी जब तक यह जीव अपने आत्माको नहीं पहचानता और अंतरंग रागादिक शत्रुओं एवं कषाय-परिणति पर विजय प्राप्त कर स्वयं अपने उद्धारका यत्न नहीं करता तब तक बराबर संसाररूपी कीचड़में ही फँसा रहता है और जन्ममरणादिके असह्य कष्टोंको भोगता रहता है । परन्तु जब इस जीवकी भवस्थिति सन्निकट आती है, दर्शनमोहका उपशम-क्षयोपशम होता है, उस समय सद्गुरुओंके उपदेशके बिना भी यह जीव अपने आत्मस्वरूपको पहचान लेता है और रागद्वेषादिरूप कषायभाव एवं विभावपरिणतिको त्याग करके स्वयं कर्मबन्धनसे छूट जाता है। इसलिये पारमार्थिकदृष्टिसे तो खुद आत्मा ही अपना गुरु है—दूसरा नहीं ॥ ७५ ॥

---

* 'वा' इति पाठान्तरं 'ग' पुस्तके ।

देहे स्वबुद्धिर्मरणोपनिपाते किं करोतीत्याह—

दृढात्मबुद्धिर्देहादावुत्पश्यन्नाशमात्मनः ।
मित्रादिभिर्वियोगं च बिभेति मरणाद्भृशम् ॥७६॥

टीका—देहादौ दृढात्मबुद्धिरविचलात्मदृष्टिर्बहिरात्मा । उत्पश्यनवलोकयन् । आत्मनो नाशं मरणं मित्रादिभिर्वियोगं च मम भवति इति बुद्ध्यमानो मरणाद्बिभेति भृशमत्यर्थम् ॥ ७६ ॥

यस्तु स्वात्मन्येवात्मबुद्धिः स मरणोपनिपाते किं करोतीत्याह—

आत्मन्येवात्मधीरन्यां शरीरगतिमात्मनः ।
मन्यते निर्भयं त्यक्त्वा वस्त्रं वस्त्रांतरग्रहम् ॥ ७७ ॥

शरीरमें आत्मबुद्धि रखनेवाला बहिरात्मा मरणके संनिकट आनेपर क्या करता है, उसे बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(देहादौ दृढात्मबुद्धिः) शरीरादिकमें जिसकी आत्मबुद्धि दृढ होरही है ऐसा बहिरात्मा (आत्मनः नाशम्) शरीरके छूटनेरूप अपने मरण (च) और (मित्रादिभिः वियोगं) मित्रादि सम्बन्धियोंके वियोगको (उत्पश्यन्) देखता हुआ (मरणात्) मरनेसे (भृशम्) अत्यंत (बिभेति) डरता है ।

भावार्थ—फटे पुराने कपडेको उतार कर नवीन वस्त्र पहननेमें जिस प्रकार कोई दुःख नहीं होता, उसी प्रकार एक शरीरको छोड़ कर दूसरा नया शरीर धारण करनेमें कोई कष्ट न होना चाहिये । परन्तु यह अज्ञानी जीव मोहके तीव्रउदयवश जब शरीरको ही आत्मा समझ लेता है और शरीरसम्बन्धी स्त्री-पुत्र मित्रादि परपदार्थोंको आत्मीय मान लेता है तब मरणके समुपस्थित होनेपर उसे अपना (अपने आत्माका) नाश और आत्मीय जनोंका वियोग दीख पड़ता है और इसलिये वह मरनेसे बहुत ही डरता है ॥ ७६ ॥

जिसकी आत्मस्वरूपमें ही आत्मबुद्धि है ऐसा अन्तरात्मा मरणके समुपस्थित होनेपर क्या करता है उसे बतलाते हैं—

टीका—आत्मन्येवात्मस्वरूप एव आत्मधीः अन्तरात्मा शरीरगतिं शरीरविनाशं शरीरपरिणतिं वा बालाद्यवस्थारूपां आत्मनो अन्यां भिन्नां निर्भयं यथा भवत्येवं मन्यते। शरीरोत्पादविनाशौ आत्मनो विनाशोत्पादौ (उत्पादविनाशौ इति साधुः) न मन्यत इत्यर्थः। वस्त्रं त्यक्त्वा वस्त्रान्तर-ग्रहणमिव ॥ ७७ ॥

एवं च स एव बुध्यते यो व्यवहारेऽनादरपरः यस्तु तत्रादरपरः स न बुध्यत इत्याह—

***व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यात्मगोचरे।**
जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन् सुषुप्तश्चात्मगोचरे ॥७८॥

अन्वयार्थ—(आत्मनि: एव आत्मधीः) आत्मस्वरूपमें ही जिसकी दृढ आत्मबुद्धि है ऐसा अन्तरात्मा (शरीरगतिं) शरीरके विनाशको अथवा बाल-युवा आदिरूप उसकी परिणतिको (आत्मनः अन्यां) अपने आत्मासे भिन्न (मन्यते) मानता है—शरीरके उत्पाद विनाशमें अपने आत्माका उत्पाद-विनाश नहीं मानता—और इस तरह मरणके अवसरपर (वस्त्रं त्यक्त्वा वस्त्रान्तरग्रहम् इव) एक वस्त्रको छोड़कर दूसरा वस्त्र ग्रहण करने की तरह (निर्भयं मन्यते) निर्भय रहता है ॥ ७७ ॥

भावार्थ—अन्तरात्मा स्वपरके भेदका यथार्थ ज्ञाता होता है, अतएव पुद्गलके विविध परिणामोंसे खेद खिन्न नहीं होता। शरीरादि पुद्गलमय द्रव्योंको वह अपने नहीं समझता। इसी लिये शरीररूपी झोंपड़ेका विनाश समुपस्थित होनेपर भी उसे आकुलता नहीं सताती। वह तो निर्भय हुआ अपने आत्मस्वरूपमें मग्न रहता है और शरीरके त्याग-ग्रहणको वस्त्रके त्याग-ग्रहणके समान समझता है ॥ ७७ ॥

इस प्रकार वही आत्मबोधको प्राप्त होता है जो व्यवहारमें अनादर-वान् है—अनासक्त है—और जो व्यवहारमें आदरवान् है—आसक्त है—वह आत्मबोधको प्राप्त नहीं होता।

---

* जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणे कज्जे ॥ ३१ ॥
—मोक्षप्राभृते, कुन्दकुन्दः।

टीका—व्यवहारे विकल्पाभिधानलक्षणे प्रवृत्तिनिवृत्त्यादिस्वरूपे वा सुषुप्तोऽप्रयत्नपरो यः स जागर्त्यात्मगोचरे आत्मविषये संवेदनोद्यतो भवति। यस्तु व्यवहारेऽस्मिन्नुक्तप्रकारे जागर्ति स सुषुप्तः आत्मगोचरे ॥ ७८ ॥

यश्चात्मगोचरे जागर्ति स मुक्तिं प्राप्नोतीत्याह—

आत्मानमन्तरे दृष्ट्वा दृष्ट्वा देहादिकं बहिः।
तयोरन्तरविज्ञानादाभ्यासादच्युतो भवेत् ॥ ७९ ॥

टीका—आत्मानमन्तरेऽभ्यन्तरे दृष्ट्वा देहादिकं बहिर्दृष्ट्वा तयोरात्मदेह-

---

अन्वयार्थ—(यः) जो कोई (व्यवहारे) प्रवृत्ति-निवृत्त्यादिरूप लोकव्यवहारमें (सुषुप्तः) सोता है—अनासक्त एवं अप्रयत्नशील रहता है (सः) वह (आत्मगोचरे) आत्माके विषयमें (जागर्ति) जागता है—आत्मानुभवमें तत्पर रहता है (च) और जो (अस्मिन् व्यवहारे) इस लोकव्यवहारमें (जागर्ति) जागता है—उसकी साधनामें तत्पर रहता है वह (आत्मगोचरे) आत्माके विषयमें (सुषुप्तः) सोता है—आत्मानुभवका कोई प्रयत्न नहीं करता है।

भावार्थ—जिस प्रकार एक स्थानमें दो तलवारें नहीं रह सकतीं उसी प्रकार आत्मामें एक साथ दो विरुद्ध परिणतियां भी नहीं रह सकतीं। आत्मासक्ति और लोकव्यवहारासक्ति ये दो विरुद्ध परिणतियां हैं। जो आत्मानुभवनमें आसक्त हुआ आत्माके आराधनमें तत्पर होता है वह लौकिक व्यवहारोंसे प्रायः उदासीन रहता है—उनमें अपने आत्माको नहीं फंसाता। और जो लोकव्यवहारोंमें अपने आत्माको फँसाए रखता है—उन्हींमें सदा दत्तावधान रहता है—वह आत्माके विषयमें बिल्कुल बेखबर रहता है—उसे अपने शुद्धस्वरूपका कोई अनुभव नहीं होपाता ॥ ७८ ॥

जो अपने आत्मस्वरूपके विषयमें जागता है—उसकी ठीक सावधानी रखता है—वह मुक्तिको प्राप्त करता है, ऐसा कहते हैं—

अन्वयार्थ—(अन्तरे) अन्तरंगमें (आत्मानम्) आत्माके वास्तविक स्वरूपको (दृष्ट्वा) देखकर और (बहिः) बाह्यमें (देहादिकं) शरीरादिक परभावोंको (दृष्ट्वा) देखकर (तयोः) आत्मा और शरीरादिक दोनोंके (अन्तर-

योरन्तरविज्ञानात् अच्युतो मुक्तो भवेत् । ततोऽच्युतो भवन्नप्यभ्यासाद्भेदज्ञानभावनातो भवति न पुनर्भेदविज्ञानमात्रात् ॥ ७९ ॥

यस्य च देहात्मनोर्भेददर्शनं तस्य प्रारब्धयोगावस्थायां निष्पन्नयोगावस्थायां च कीदृशं जगत्प्रतिभासत इत्याह—

पूर्वं दृष्टात्मतत्त्वस्य विभात्युन्मत्तवज्जगत् ।
स्वभ्यस्तात्मधियः पश्चात् काष्ठपाषाणरूपवत् ॥८०॥

टीका—पूर्वं दृष्टात्मतत्त्वस्य देहाद्भेदेन प्रतिपन्नात्मस्वरूपस्य योगिनः

विज्ञानात्) भेदविज्ञानसे तथा (अभ्यासात्) अभ्यासद्वारा उस भेदविज्ञानमें दृढता प्राप्त करनेसे (अच्युतो भवेत्) यह जीव मुक्त होजाता है ।

भावार्थ—जब इस जीवको आत्मस्वरूपका दर्शन होजाता है और यह शरीरादिकको अपने आत्मासे भिन्न परपदार्थ समझने लगता है तब इसकी परिणति पलट जाती है—बाह्य विषयोंसे हटकर अन्तर्मुखी हो जाती है—और तब यह अपने उपयोगको इधर उधर इन्द्रिय विषयोंमें न भ्रमाकर आत्माराधनकी ओर एकाग्र करता है, आत्मसाधनके अपने अभ्यासको बढ़ाता है और उस अभ्यासमें दृढता सम्पादन करके अपने सम्यग्दर्शनादि गुणोंका पूर्ण विकास करलेता है । फिर उसका आत्मस्वरूपसे पतन नहीं होता—वह उसमें बराबर स्थिर रहता है । इसीका नाम अच्युत होना अथवा अच्युत (मोक्ष) पदकी प्राप्ति है ॥ ७९ ॥

शरीर और आत्माका जिसे भेदविज्ञान होगया है ऐसे अन्तरात्माको यह जगत योगाभ्यासकी प्रारम्भावस्थामें कैसा दिखाई देता है और योगाभ्यासकी निष्पन्नावस्थामें कैसा प्रतीत होता है उसे बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(दृष्टात्मतत्त्वस्य) जिसे आत्मस्वरूपका दर्शन होगया है ऐसे योगी जीवको (पूर्वं) योगाभ्यासकी प्राथमिक अवस्थामें (जगत्) यह अज्ञ प्राणिसमूह (उन्मत्तवत्) उन्मत्त-सरीखा (विभाति) मालूम होता है किन्तु (पश्चात्) बादको जब योगकी निष्पन्नावस्था होजाती है तब (स्वभ्यस्तात्मधियः) आत्मस्वरूपके अभ्यासमें परिपक्वबुद्धि हुए अन्तरात्माको (काष्ठपाषाणरूपवत्) यह जगत काठ और पत्थरके समान चेष्टारहित मालूम होने लगता है ।

विभात्युन्मत्तवज्जगत् स्वरूपचिंतनविकलत्वाच्छुभेतरचेष्टायुक्तमिदं जगत् नानाबाह्यविकल्पैरुपेतमुन्मत्तमिव प्रतिभासते। पश्चान्निष्पन्नयोगावस्थायां सत्यां स्वभ्यस्तात्मधियः सुष्टुभावितमात्मस्वरूपं येन तस्य निश्चलात्मस्वरूपमनुभवतो जगद्विषयचिन्ताभावात् काष्ठपाषाणवत्प्रतिभाति। न तु परमौदासीन्यावलम्बात् ॥ ८० ॥

ननु स्वभ्यस्तात्मधियः इति व्यर्थम्। शरीराद्भेदेनात्मनस्तत्स्वरूपविद्भ्यः श्रवणात्स्वयं वाऽन्येषां तत्स्वरूपप्रतिपादनान्मुक्तिर्भविष्यतीत्याशङ्क्याह—

शृण्वन्नप्यन्यतः कामं वदन्नपि कलेवरात्।
नात्मानं भावयेद्भिन्नं यावत्तावन्न मोक्षभाक् ॥८१॥

भावार्थ—अपने शरीरसे भिन्नरूप जब आत्माका अनुभव होता है तब योगकी प्रारम्भिक दशा होती है, उस समय योगी अन्तरात्माको यह जगत् स्वरूपचिन्तनसे विकल होनेके कारण शुभाऽशुभ चेष्टाओंसे युक्त और नाना प्रकारके बाह्य विकल्पोंसे घिरा हुआ उन्मत्त-जैसा मालूम पड़ता है। बादको योगमें निष्पन्न होनेपर जब आत्मानुभवका अभ्यास खूब दृढ होजाता है—बाह्यविषयोंमें उसकी परिणति नहीं जाती—तब, परम उदासीन भावका अवलम्बन न लेते हुए भी, जगद्विषयक चिन्ताका अभाव होजानेके कारण उसे यह जगत काष्ठ-पाषाण-जैसा निश्चेष्ट जान पड़ता है। यह सब भेदविज्ञान और अभ्यास-अनभ्यासका माहात्म्य है ॥ ८० ॥

यदि कोई शंका करे कि 'स्वभ्यस्तात्मधियः' यह पद जो पूर्वश्लोकमें दिया है वह व्यर्थ है—आत्मतत्त्वके अभ्यासमें परिपक्व होनेकी कोई ज़रूरत नहीं—क्योंकि शरीर और आत्माके स्वरूपके जाननेवालोंसे आत्मा शरीरसे भिन्न है ऐसा सुननेसे अथवा स्वयं दूसरोंको उस स्वरूपका प्रतिपादन करनेसे मुक्ति होजायगी, तो उसके उत्तरमें कहते हैं—

अन्वयार्थ—आत्माका स्वरूप (अन्यतः) उपाध्याय आदि गुरुओंके मुखसे (कामं) खूब इच्छानुसार (शृण्वन्नपि) सुननेपर भी तथा (कलेवरात्) अपने मुखसे (वदन्नपि) दूसरोंको बतलाते हुए भी (यावत्)

टीका—अन्यत उपाध्यायादेः कामं अत्यर्थं शृण्वन्नपि कलेवराद्भिन्न-माकर्णयन्नपि ततो भिन्नं तं स्वयमन्यान प्रति वदन्नपि यावत्कलेवराद्भिन्नमात्मानं न भावयेत् । तावन्न मोक्षभाक् मोक्षभाजनं तावन्न भवेत् ॥८१॥

तद्भावनायां च प्रवृत्तोऽसौ किं कुर्यादित्याह—

तथैव भावयेद्देहाद्व्यावृत्त्यात्मानमात्मनि ।
यथा न पुनरात्मानं देहे स्वप्नेऽपि योजयेत् ॥८२ ॥

टीका—देहाद्व्यावृत्य शरीरात्पृथक्कृत्वा आत्मानं स्वस्वरूपं आत्मनि स्थितं तथैव भावयेत् शरीराद्भेदेन दृढतरभेदभावनाप्रकारेण भावयेत् । यथा पुनः स्वप्ने स्वप्नावस्थायां देहे उपलब्धेऽपि तत्र आत्मानं न योजयेत् देहमात्मतया नाध्यवस्येत् ॥ ८२ ॥

जबतक (आत्मानं) आत्मस्वरूपकी (भिन्नं) शरीरादि परपदार्थोंसे भिन्न (न भावयेत्) भावना नहीं की जाती । (तावत्) तब तक (मोक्षभाक् न) यह जीव मोक्षका अधिकारी नहीं होसकता ॥८१॥

भावार्थ—जीव और पुद्गलके स्वरूपको सुनकर तोतेकी तरहसे रट लेने और दूसरोंको सुनादेने मात्रसे मुक्तिकी प्राप्ति नहीं हो सकती। मुक्तिकी प्राप्तिके लिये आत्माको शरीरादिसे भिन्न अनुभव करनेकी खास ज़रूरत है। जब तक भावनाके बलपर यह अभ्यास दृढ नहीं होता तब तक कुछ भी आत्मकल्याण नहीं बन सकता ॥८१॥

भेदविज्ञानकी भावनामें प्रवृत्त हुए अन्तरात्माको क्या करना चाहिये, उसे बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—अन्तरात्माको चाहिये कि वह (देहात्) शरीरसे (आत्मानं) आत्माको (व्यावृत्य) भिन्न अनुभव करके (आत्मनि) आत्मामें ही (तथैव) उस प्रकारसे (भावयेत्) भावना करे (यथा पुनः) जिस प्रकारसे फिर (स्वप्नेऽपि) स्वप्नमें भी (देहे) शरीरकी उपलब्धि होनेपर उसमें (आत्मानं) आत्माको (न योजयेत्) योजित न करे अर्थात् शरीरको आत्मा न समझ बैठे।

भावार्थ—मोहकी प्रबलता-जन्य चिरकालका अज्ञान संस्कार जब हृदयसे निकल जाता है तब स्वप्नमें भी इस जड़ शरीरमें आत्माकी बुद्धि

यथा परमौदासीन्यावस्थायां स्वपरविकल्पस्त्याज्यस्तथा व्रतविकल्पोऽपि । यतः—

अपुण्यमव्रतैः पुण्यं व्रतैर्मोक्षस्तयोर्व्ययः ।
अव्रतानीव मोक्षार्थी व्रतान्यपि ततस्त्यजेत् ॥ ८३ ॥

टीका—अपुण्यमधर्मः अव्रतैर्हिंसादिविकल्पैः परिणतस्य भवति। पुण्यं धर्मो व्रतैः अहिंसादिविकल्पैः परिणतस्य भवति। मोक्षः पुनस्तयोः पुण्यापुण्ययोर्व्ययो विनाशो मोक्षः। यथैव हि लोहशृङ्खला बंधहेतुस्तथा सुवर्णशृङ्खलाऽपि। अतो यथोभयशृङ्खलाभावाद्व्यवहारे मुक्तिस्तथा परमार्थेऽपीति। ततस्तस्मात्मोक्षार्थी अव्रतानीव इव शब्दो यथाऽर्थः यथाऽव्रतानि त्यजेत्तथा व्रतान्यपि ॥ ८३ ॥

नहीं होती। अतः उक्त संस्कारको दूर करनेके लिये भेदविज्ञानको निरंतर भावना करनी चाहिये ॥ ८२ ॥

जिस प्रकार परम उदासीन अवस्थामें स्वपरका विकल्प त्यागने योग्य होता है उसी प्रकार व्रतोंके पालनेका विकल्प भी त्याज्य है। क्योंकि—

अन्वयार्थ—(अव्रतैः) हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, और परिग्रहरूप पांच अव्रतोंके अनुष्ठानसे (अपुण्यम्) पापका बंध होता है और (व्रतैः) अहिंसादिक पांच व्रतोंके पालनेसे (पुण्यं) पुण्यका बंध होता है और (तयोः) पुण्य और पाप दोनों कर्मोंका (व्ययः) जो विनाश है वही (मोक्षः) मोक्ष है (ततः) इस लिये (मोक्षार्थी) मोक्षके इच्छुक भव्य पुरुषको चाहिये कि (अव्रतानि इव) अव्रतोंकी तरह (व्रतानि अपि) व्रतोंको भी (त्यजेत) छोड़ देवे।

भावार्थ—मोक्षार्थी पुरुषको मोक्षप्राप्तिके मार्गमें जिस प्रकार पंच अव्रत विघ्नस्वरूप हैं उसी प्रकार पाँच व्रत भी बाधक हैं; क्योंकि लोहेकी बेड़ी जिस प्रकार बन्धकारक है उसी प्रकार सोनेकी बेड़ी भी बंधकारक है। दोनों प्रकारकी बेड़ियोंका अभाव होनेपर जिस प्रकार लोकव्यवहारमें मुक्ति (आज़ादी) समझी जाती है उसी प्रकार परमार्थमें भी व्रत और अव्रत दोनोंके अभावसे मुक्ति मानी गई है। अतः मुमुक्षुको अव्रतोंकी

कथं तानि त्यजेदिति तेषां त्यागक्रमं दर्शयन्नाह—

अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः ।
त्यजेत्तान्यपि संप्राप्य परमं पदमात्मनः ॥ ८४ ॥

टीका—अव्रतानि हिंसादीनि परित्यज्य व्रतेपु परिनिष्ठितो भवेत् । पश्चात्तान्यपि त्यजेत् । किं कृत्वा ? सम्प्राप्य । किं तत् ? परमं पदं परम-वीतरागतालक्षणं क्षीणकषायगुणस्थानं । कस्य तत्पदं ? आत्मनः ॥ ८४ ॥

कुतोऽव्रत-व्रतविकल्पपरित्यागे परमपदप्राप्तिरित्याह—

यदन्तर्जल्पसंपृक्तमुत्प्रेक्षाजालमात्मनः ।
मूलं दुःखस्य तन्नाशे शिष्टमिष्टं परं पदम् ॥ ८५ ॥

टीका—यदुत्प्रेक्षाजालं । कथम्भूतं ? अन्तर्जल्पसंपृक्तं अन्तर्वचन-

---

तरह व्रतोंको भी छोड़ देना चाहिये ॥ ८३ ॥

अब उनके छोड़नेका क्रम बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(अव्रतानि) हिंसादिक पंच अव्रतोंको (परित्यज्य) छोड़ करके (व्रतेषु) अहिंसादिक व्रतोंमें (परिनिष्ठितः) निष्ठावान रहे अर्थात उनका दृढताके साथ पालन करे, बादको (आत्मनः) आत्माके (परमं पदं) राग-द्वेषादिरहित परम वीतरागपदको (प्राप्य) प्राप्त करके (तानि अपि) उन व्रतोंको भी (त्यजेत्) छोड़ देवे ॥ ८४ ॥

भावार्थ—प्रथम तो हिंसादिक पंच पापरूप अशुभ प्रवृत्तिको छोड़कर अहिंसादिक व्रतोंके अनुष्ठानरूप शुभ प्रवृत्ति करनी चाहिये। साथ ही, अपना लक्ष शुद्धोपयोगकी ओर ही रखना चाहिये। जब आत्माके परम-पदरूप शुद्धोपयोगकी—परमवीतरागतामय क्षीणकषायनामक गुणस्थान-की—सम्प्राप्ति हो जावे तब उन व्रतोंको भी छोड़ देना चाहिये। लेकिन जब *तक वीतरागदशा न हो जावे तबतक व्रतोंका अवलम्बन रखना चाहिये,* जिससे अशुभकी ओर प्रवृत्ति न हो सके ॥ ८४ ॥

किस प्रकार अव्रतों और व्रतोंके विकल्पको छोड़नेपर परमपदकी प्राप्ति होगी, उसे बतलाते हैं—

व्यापारोपेतं । आत्मनो दुःखस्य मूलं कारणं । तन्नाशे तस्योत्प्रेक्षाजालस्य विनाशे । इष्टमभिलषितं यत्पदं तच्छिष्टं प्रतिपादितम् ॥ ८५ ॥

तस्य चोत्प्रेक्षाजालस्य नाशं कुर्वाणोऽनेन क्रमेण कुर्यादित्याह—

अव्रती व्रतमादाय व्रती ज्ञानपरायणः ।
परात्मज्ञानसम्पन्नः स्वयमेव परो भवेत् ॥ ८६ ॥

टीका—अव्रतित्वावस्थाभावि विकल्पजालं व्रतमादाय विनाशयेत् । व्रतित्वावस्थाभावि पुनर्विकल्पजालं ज्ञानपरायणो ज्ञानभावनानिष्ठो भूत्वा

अन्वयार्थ—(अन्तर्जल्पसंपृक्तं) अंतरंगमें वचन व्यापारको लिये हुए (यत् उत्प्रेक्षाजालं) जो अनेक प्रकारकी कल्पनाओंका जाल है वही (आत्मनः) आत्माके (दुःखस्य) दुःखका (मूलं) मूल कारण है (तन्नाशे) उस विविध संकल्प विकल्परूप कल्पनाजालके विनाश होनेपर (इष्टं) अपने प्रिय हितकारी (परमं पदं शिष्टं) परमपदकी प्राप्ति कही गई है ।

भावार्थ—यह जीव अपने चिदानन्दमय परम अतीन्द्रिय अविनाशी निर्विकल्प स्वरूपको भूलकर जब तक बाह्यविषयोंको अपनाता हुआ दुःखोंके मूलकारण अन्तर्जल्परूपी अनेक संकल्प विकल्पोंके जालमें फँसा रहता है—मन-ही मन कुछ गुनगुनाता अथवा हवासे बातें करता है--तब तक इसको परमपदकी प्राप्ति नहीं हो सकती और न कोई सुख ही मिल सकता है । सुखमय परमपदकी प्राप्ति उसीको होती है जो अन्तर्जल्परूपी उत्प्रेक्षाजालका सर्वथा त्याग करके अपने ही चैतन्य चमत्काररूप विज्ञानघन आत्मामें लीन होजाता है ॥ ८५ ॥

उस उत्प्रेक्षाजालका नाश करनेके लिये उद्यमी मनुष्य किस क्रमसे उसका नाश करे, उसे बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(अव्रती) हिंसादिक पंच अव्रतों-पापोंमें अनुरक्त हुआ मानव (व्रतं आदाय) व्रतोंको ग्रहण करके, अव्रतावस्थामें होने वाले विकल्पोंका नाश करे, तथा (व्रती) अहिंसादिक व्रतोंका धारक (ज्ञानपरायणः) ज्ञानभावनामें लीन होकर, व्रतावस्थामें होने वाले विकल्पोंका नाश करे और फिर अरहंत-अवस्थामें (परात्मज्ञानसम्पन्नः) केवलज्ञानसे युक्त होकर

परमवीतरागतावस्थायां विनाशयेत् । सयोगिजिनावस्थायां परात्मज्ञानसम्पन्नः परं सकलज्ञानेभ्यः उत्कृष्टं तच्च तदात्मज्ञानं च केवलज्ञानं तेन सम्पन्नो युक्तः स्वयमेव गुर्वाद्युपदेशानपेक्षः परः सिद्धस्वरूप आत्मा भवेत् ॥ ८६ ॥

यथा च व्रतविकल्पो मुक्तिहेतुर्न भवति तथा लिङ्गविकल्पोऽपीत्याह—

लिङ्गं देहाश्रितं दृष्टं देहएवात्मनो भवः ।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये लिङ्गकृताग्रहाः ॥ ८७ ॥

टीका—लिङ्गं जटाधारणनग्नत्वादिदेहाश्रितं दृष्टं शरीरधर्मतया प्रतिपन्नं । देह एवात्मनो भवः संसारः । यत एवं तस्माद्ये लिंगकृताग्रहाः लिंगमेवमुक्तेर्हेतुरितिकृताभिनिवेशास्ते न मुच्यंते । कस्मात् भवात् ॥ ८७ ॥

(स्वयमेव) स्वयं ही–बिना किसीके उपदेशके (परः भवेत्) परमात्मा होवे–सिद्धस्वरूपको प्राप्त करे ।

भावार्थ—विकल्पजालको जानकर सिद्धि प्राप्तकरनेका क्रम अव्रतीमे व्रती होना, व्रतामें ज्ञानभावनामें लीन होना, ज्ञानभावनामें लीनहोकर केवलज्ञानको प्राप्त करना और केवलज्ञानसे सम्पन्न होकर सिद्धपदको प्राप्त करना है ॥ ८६ ॥

जिस प्रकार व्रतोंका विकल्प मोक्षका कारण नहीं उसी प्रकार लिंगका विकल्प भी मोक्षका कारण नहीं हो सकता, ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

अन्वयार्थ—(लिङ्गं) जटा धारण करना अथवा नग्न रहना आदि वेष (देहाश्रितं दृष्टं) शरीरके आश्रित देखा जाता है (देह एव) और शरीर ही (आत्मनः) आत्माका (भवः) संसार है (तस्मात्) इसलिये (ये लिङ्गकृताग्रहाः) जिनको लिङ्गका ही आग्रह है—बाह्य वेष धारण करनेसे मुक्तिको प्राप्ति होती है ऐसी हठ है (ते) वे पुरुष (भवात्) संसारसे (न मुच्यन्ते) नहीं छूटते हैं ॥ ८७ ॥

भावार्थ—जो जीव केवल लिंग अथवा बाह्य वेषको ही मोक्षका कारण मानते हैं वे देहात्मदृष्टि हैं और इस लिये मुक्तिको प्राप्त नहीं हो सकते । क्योंकि लिंगका आधार देह है और देह ही इस आत्माका संसार है—देहके अभावमें संसार रहता नहीं । जो लिंगके आग्रही हैं—लिंगको

येऽपि 'वर्णानां ब्राह्मणो गुरुरतः स एव परमपदयोग्य' इति वदन्ति तेऽपि न मुक्तियोग्या इत्याह—

जातिर्देहाश्रिता दृष्टा देह एवात्मनो भवः ।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये जातिकृताग्रहाः ॥ ८८ ॥

टीका—जातिर्ब्राह्मणादिर्देहाश्रितेत्यादि सुगमं ॥ ८८ ॥

तर्हि ब्राह्मणादिजातिविशिष्टो निर्वाणादिदीक्षया दीक्षितो मुक्तिं प्राप्नोतीति वदन्तं प्रत्याह—

जातिलिंगविकल्पेन येषां च समयाग्रहः ।
तेऽपि न प्राप्नुवन्त्येव परमं पदमात्मनः ॥ ८९ ॥

ही मुक्तिका कारण समझते हैं—वे संसारके आग्रही हैं—संसारको अपनाए हुए हैं, और जो संसारके आग्रही होते हैं—इसीकी हठ पकड़े रहते हैं—वे संसारसे नहीं छूट सकते ॥ ८७ ॥

जो ऐसा कहते हैं कि 'वर्णोंका ब्राह्मण गुरु है, इसलिये वही परम-पदके योग्य है' वे भी मुक्तिके योग्य नहीं हैं, ऐसा बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(जातिः) ब्राह्मण आदि जाति (देहाश्रिता दृष्टा) शरीरके आश्रित देखी गई है (देह एव) और शरीर ही (आत्मनः भवः) आत्मा-का संसार है (तस्मात्) इसलिये (ये) जो जीव (जातिकृताग्रहाः) मुक्तिकी प्राप्तिके लिये जातिका हठ पकड़े हुए हैं (तेऽपि) वे भी (भवात्) संसारसे (न मुच्यन्ते) नहीं छूट सकते हैं।

भावार्थ—लिंगकी तरह जाति भी देहाश्रित है और इसलिये जातिका दुराग्रह रखने वाले भी मुक्तिको प्राप्त नहीं हो सकते। उनका जाति-विषयक आग्रह भी संसारका ही आग्रह है और इसलिये वे संसारसे कैसे छूट सकते हैं? —नहीं छूट सकते ॥ ८८ ॥

तब तो ब्राह्मण आदि जातिविशिष्ट मानव ही साधुवेष धारणकर मुक्ति प्राप्त करसकता है, ऐसा कहने वालोंके प्रति कहते हैं—

अन्वयार्थ—(येषां) जिन जीवोंका (जातिलिंगविकल्पेन) जाति और वेष

टीका—जातिलिंगरूपविकल्पो भेदस्तेन येषां शैवादीनां समयाग्रहः आगमानुबंधः उत्तमजातिविशिष्टं हि लिंगं मुक्तिहेतुरित्यागमे प्रतिपादितमतस्तावन्मात्रेणैव मुक्तिरित्येवंरूपो येषामागमाभिनिवेशः तेऽपि न प्राप्नुवन्त्येव परमं पदमात्मनः ॥ ८९ ॥

तत्पदप्राप्त्यर्थं जात्यादिविशिष्टे शरीरे निर्ममत्वसिद्ध्यर्थं भोगेभ्यो व्यावृत्यापि पुनर्मोहवशाच्छरीर एवानुबन्धं प्रकुर्वन्तीत्याह—

यत्त्यागाय निवर्तन्ते भोगेभ्यो यदवाप्तये ।
प्रीतिं तत्रैव कुर्वन्ति द्वेषमन्यत्र मोहिनः ॥ ९० ॥

के विकल्पमें मुक्ति होता है ऐसा (समयाग्रहः) आगम-सम्बन्धी आग्रह है अर्थात ब्राह्मण आदि जातिमें उत्पन्न होकर अमुक वेष धारण करनेमें ही मुक्ति होती है ऐसा आगमानुबन्धि हठ है (ते अपि) वे पुरुष भी (आत्मनः) आत्माके (परमं पदं) परमपदको (न प्राप्नुवन्त्येव) प्राप्त नहीं कर सकते हैं—संसारसे मुक्त नहीं हो सकते हैं।

भावार्थ—जिनका ऐसा आग्रह है कि अमुक जातिवाला अमुक वेष धारण करे तभी मुक्तिकी प्राप्ति होती है ऐसा आगममें कहा है, वे भी मुक्तिको प्राप्त नहीं हो सकते; क्योंकि जाति और लिंग दोनों ही जब देहाश्रित हैं और देह ही आत्माका संसार है तब संसारका आग्रह रखने वाले उससे कैसे छूट सकते हैं? ॥ ८९ ॥

उस परमपदकी प्राप्तिके लिये ब्राह्मणादिजातिविशिष्ट शरीरमें निर्ममत्वको सिद्ध करनेके लिये भोगोंको छोड़ देनेपर भी अज्ञानी जीव मोहके वश होकर शरीरमें ही अनुराग करने लगजाते हैं, ऐसा कहते हैं—

अन्वयार्थ—[यत्त्यागाय] जिस शरीरके त्यागके लिये—उससे ममत्व दूर करने के लिये—और (यदवाप्तये) जिस परमवीतराग पदको प्राप्त करनेके लिये [भोगेभ्यः] इन्द्रियोंके भोगोंसे (निवर्तन्ते) निवृत्त होते हैं अर्थात् उनका त्याग करते हैं (तत्रैव) उसी शरीर और इन्द्रियोंके विषयोंमें (मोहिनः) मोही जीव (प्रीतिं कुर्वन्ति) प्रीति करते हैं और (अन्यत्र) वीतरागता आदिके साधनोंमें (द्वेषं कुर्वन्ति) द्वेष करते हैं ॥ ९० ॥

टीका—यस्य शरीरस्य त्यागाय निर्ममत्वाय भोगेभ्यः स्रग्वनितादिभ्यो निवर्तन्ते। तथा यदवाप्तये यस्य परमवीतरागत्वस्यावाप्तये प्राप्तिनिमित्तं भोगेभ्यो निवर्तन्ते। प्रीतिमनुबन्धं तत्रैव शरीरे एव कुर्वन्ति द्वेषं पुनरन्यत्र वीतरागत्वे। के ते ? मोहिनो मोहवन्तः ॥ ९०

तेषां देहे दर्शनव्यापारविपर्यासं दर्शयन्नाह—

अनन्तरज्ञः संधत्ते दृष्टिं पंगोर्यथाऽन्धके।
संयोगात् दृष्टिमङ्गेऽपि संधत्ते तद्वदात्मनः ॥ ९१॥

टीका—अनन्तरज्ञो भेदाग्राहकः पुरुषो यथा पङ्गोर्दृष्टिमन्धके सन्धत्ते आरोपयति। कस्मात् संयोगात् पंग्वन्धयोः सम्बन्धमाश्रित्य। तद्वत् तथा

भावार्थ—मोहकी बड़ी ही विचित्र लीला है। जिस शरीरमें ममत्व हटानेके लिये भोगोंमें निवृत्ति धारणकी जाती है—संयम ग्रहण किया जाता है—उसीमें मोही जीव पुनः प्रीति करने लगता है और जिस वीत-रागभावकी प्राप्तिके लिये भोगोंमें निवृत्ति धारण की जाती है—संयमका आश्रय लिया जाता है—उसीसे मोही जीव द्वेष करने लगता है। ऐसी हालतमें मोहपर विजय प्राप्त करनेके लिये बड़ी ही सावधानीकी ज़रूरत है और वह तभी बन सकती है जब साधककी दृष्टि शुद्ध हो। दृष्टिमें विकार आते ही सारा खेल बिगड़ जाता है—अपकारीको उपकारी और उपकारीको अपकारी समझ लिया जाता है ॥ ९० ॥

मोहीजीवोंके शरीरमें दर्शनव्यापारका विपर्यास किस प्रकार होता है, उसे दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(अनन्तरज्ञः) भेदज्ञान न रखने वाला पुरुष (यथा) जिस प्रकार (संयोगात्) संयोगके कारण भ्रममें पड़कर—संयुक्त हुए लंगडे और अंधेकी क्रियाओंको ठीक न समझकर (पंगोर्दृष्टिं) लंगड़ेकी दृष्टिको (अन्धके) अन्धे पुरुषमें (संधत्ते) आरोपित करता है—यह समझता है कि अन्धा स्वयं देखकर चल रहा है—(तद्वत्) उसी प्रकार (आत्मनः दृष्टिं) आत्माकी दृष्टिको (अङ्गेऽपि) शरीरमें भी (संधत्ते) आरोपित करता है—यह समझने लगता है कि यह शरीर ही देखता जानता है।

देहात्मनोः संयोगादात्मनो दृष्टिमंगेऽपि सन्धत्ते अंगं (गः) पश्यतीति [मन्यते] मोहाभिभूतो बहिरात्मा ॥ ९१ ॥

अन्तरात्मा किं करोतीत्याह—

दृष्टभेदो यथा दृष्टिं पङ्गोरन्धे न योजयेत् ।
तथा न योजयेद्देहे दृष्टात्मा दृष्टिमात्मनः ॥ ९२ ॥

टीका—दृष्टभेदः पंग्वन्धयोः प्रतिपन्नभेदः पुरुषो यथा पंगोर्दृष्टिमन्धे न योजयेत् । तथा आत्मनो दृष्टिं देहे न योजयेत् । कोऽसौ ? दृष्टात्मा देहाद्भेदेन प्रतिपन्नात्मा ॥ ९२ ॥

भावार्थ—एक लँगड़ा अन्धेके कंधेपर चढ़ा जारहा है और ठीक मार्गसे चलनेके लिये उस अन्धेको इशारा करता जाता है, मार्ग चलनेमें दृष्टि लंगड़ेकी और पद टांगें अन्धेकी काम करती हैं । इस भेदको ठीक न जानने वाला कोई पुरुष यदि यह समझले कि यह अन्धा ही कैसा सावधानीसे देखकर चलरहा है तो वह जिस प्रकार उसका भ्रम होगा उसी प्रकार शरीरारूढ़ आत्माकी दर्शनादिक क्रियाओंको न समझकर उन्हें शरीरकी मानना भी भ्रम है और इसका कारण आत्मा और शरीर दोनोंका एकक्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध है । आत्मा और शरीरके भेदको ठीक न समझने वाला बहिरात्मा ही ऐसे भ्रमका शिकार होता है ॥ ९१ ॥

संयोगकी ऐसी अवस्थामें अन्तरात्मा क्या करता है, उसे बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(दृष्टभेदः) जो लँगडे और अन्धेके भेदको तथा उनकी क्रियाओंको ठीक समझता है वह (यथा) जिसप्रकार (पंगोः दृष्टिं) लँगडेकी दृष्टिको (अन्धे) अन्धे पुरुषमें (न योजयेत्) नहीं जोड़ता—अन्धेको मार्ग देखकर चलने वाला नहीं मानता—(तथा) उसी प्रकार (दृष्टात्मा) आत्माको शरीरादि परपदार्थोंसे भिन्न अनुभव करने वाला अन्तरात्मा (आत्मनः दृष्टिं) आत्माकी दृष्टिको—उसके ज्ञानदर्शन स्वभावको (देहे) शरीरमें (न योजयेत्) नहीं जोड़ता है—शरीरको ज्ञाता-दृष्टा नहीं मानता है ।

भावार्थ—जिस पुरुषको अन्धे और लँगडेका भेद ठीक मालूम होता है ऐसा समझदार मनुष्य जिस प्रकार दोनोंके संयुक्त होनेपर भ्रममें नहीं

बहिरन्तरात्मनोः काऽवस्था भ्रान्तिः का वाऽभ्रान्तिरित्याह—

सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थैव विभ्रमोऽनात्मदर्शिनाम् ।
विभ्रमोऽक्षीणदोषस्य सर्वावस्थाऽऽत्मदर्शिनः ॥ ९३ ॥

टीका—सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थैव विभ्रमः प्रतिभासते। केषाम् ? अनात्मदर्शिनां यथावदात्मस्वरूपपरिज्ञानरहितानां बहिरात्मनाम् । आत्मदर्शिनोऽन्तरात्मनः पुनरक्षीणदोषस्य मोहाक्रान्तस्य बहिरात्मनः सम्बंधिन्यः सर्वावस्थाः सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थावत् जाग्रत्प्रबुद्धानुन्मत्ताद्यवस्थाऽपि विभ्रमः प्रतिभासते यथावद्वस्तुप्रतिभासाभावात् । अथवा—सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थैव एवकारोऽपिशब्दार्थे तेन

पड़ता—अन्धेको दृष्टिहीन और लंगड़ेको दृष्टिवान् समझता है—उसीप्रकार भेदविज्ञानी पुरुष आत्मा और शरीरके संयोगवश भ्रममें नहीं पड़ता—शरीरको चेतनारहित जड और आत्माको ज्ञानदर्शनस्वरूप ही समझता है, कदाचित् भी शरीरमें आत्माकी कल्पना नहीं करता ॥ ९२ ॥

बहिरात्मा और अन्तरात्माको कौनसी अवस्था भ्रमरूप और कौनसी भ्रमरहित मालूम होती है उसे बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(अनात्मदर्शिनाम्) आत्मस्वरूपका वास्तविक परिज्ञान जिन्हें नहीं है ऐसे बहिरात्माओंको (सुप्तोन्मत्तादि अवस्था एव) केवल सोने व उन्मत्त होनेकी अवस्था ही (विभ्रमः) भ्रमरूप मालूम होती है । किन्तु (आत्मदर्शिनः) आत्मानुभवी अन्तरात्माको (अक्षीणदोषस्य) मोहाक्रान्त बहिरात्माकी (सर्वावस्थाः) सर्व ही अवस्थाएं—सुप्त और उन्मत्तादि अवस्थाओंकी तरह जाग्रत, प्रबुद्ध और अनुन्मत्तादि अवस्थाएँ भी—(विभ्रमः) भ्रमरूप मालूम होती हैं ।

द्वितीय अर्थ—टीकाकारने 'ऽनात्मदर्शिनां' पदको 'न आत्मदर्शिनां' ऐसा मानकर और 'सर्वावस्थात्मदर्शिनां' को एक पद रखकर तथा 'एव' का अर्थ 'भी' लगाकर जो दूसरा अर्थ किया है वह इस प्रकार है—

आत्मदर्शी पुरुषोंकी सुप्त व उन्मत्त अवस्थाएं भी भ्रमरूप नहीं होतीं; क्योंकि दृढतर अभ्यासके कारण उनका चित्त आत्मरससे भीगा रहता है—स्वरूपसे उनको च्युति नहीं होती—इन्द्रियोंकी शिथिलता या रोगादि-

सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थाऽपि न विभ्रमः। केषाम्? आत्मदर्शिनां दृढतराभ्यासात्तद्-वस्थायामपि आत्मनि तेषामविपर्यासात् स्वरूपसंवित्तिवैकल्यासम्भवाच्च। यदि सुप्ताद्यवस्थायामप्यात्मदर्शनं स्यात्तदा जाग्रदवस्थावत्तत्राप्यात्मनः कथं सुप्तादिव्यपदेश इत्यप्ययुक्तम्। यतस्तत्रेन्द्रियाणां स्वविषये निद्रया प्रतिबन्धात्तद्व्यपदेशो न पुनरात्मदर्शनप्रतिबन्धादिति। तर्हि कस्याऽसौ विभ्रमो भवति? अक्षीणदोषस्य बहिरात्मनः। कथम्भूतस्य? सर्वावस्थात्मदर्शिनः सर्वावस्थां बालकुमारादिलक्षणां सुप्तोन्मत्तादिरूपां चात्मेति पश्यत्येवं शीलस्य॥ ९३॥

ननु सर्वावस्थात्मदर्शिनोऽप्यशेषशास्त्रपरिज्ञानान्निद्रारहितस्य मुक्तिर्भविष्यतीति वदन्तं प्रत्याह—

विदिताशेषशास्त्रोऽपि न जाग्रदपि मुच्यते।
देहात्मदृष्टिर्ज्ञातात्मा सुप्तोन्मत्तोऽपि मुच्यते॥ ९४॥

के वश उन्हें कदाचित मूर्छा भी आजाती है तो भी उनका आत्मानुभव-रूप संस्कार नहीं छूटता—वह बराबर बना ही रहता है। किन्तु अक्षीण-दोष बहिरात्माके, जो बाल युवादि सभी अवस्थारूप आत्माको अनुभव करता है, वह सब विभ्रम होता है।

भावार्थ—जिनको आत्मस्वरूपका ज्ञान नहीं है उनको केवल सुप्त व उन्मत्त जैसी अवस्थाएँ ही भ्रमरूप मालूम होती हैं किन्तु आत्मदर्शियोंको मोहके वशीभूत हुए रागी पुरुषोंकी सभी अवस्थाएँ भ्रमरूप जान पड़ती हैं—भले ही वे जाग्रत, प्रबुद्ध तथा अनुन्मत्त-जैसी अवस्थाएँ ही क्यों न हों। वास्तवमें बहिरात्मा और अंतरात्माकी अवस्थामें बड़ा भेद है—अन्तरात्मा आत्मस्वरूपमें सदा जाग्रत रहता है, जब कि बहिरात्माकी इससे विपरीत दशा होती है॥ ९३॥

यदि कोई कहे कि बाल-वृद्धादि सर्व अवस्थारूप आत्माको मानने वाला सम्पूर्ण शास्त्रोंका ज्ञान प्राप्त करलेनेसे निद्रारहित हुआ मुक्तिको प्राप्त हो जाएगा, तो उसके प्रति आचार्य कहते हैं—

अन्वयार्थ—(देहात्मदृष्टिः) शरीरमें आत्मबुद्धि रखने वाला बहिरात्मा

टीका—न मुच्यते न कर्मरहितो भवति । कोऽसौ ? देहात्मदृष्टिर्बहिरात्मा । कथम्भूतोऽपि ? विदिताशेषशास्त्रोऽपि परिज्ञाताशेषशास्त्रोऽपि देहात्मदृष्टिर्यतः देहात्मनोर्भेदरुचिरहितो यतः । पुनरपि कथम्भूतोऽपि ? जाग्रदपि निद्रयाऽनभिभूतोऽपि । यस्तु ज्ञातात्मा परिज्ञातात्मस्वरूपः स सुप्तोन्मत्तोऽपि मुच्यते विशिष्टां कर्मनिर्जरां करोति दृढतराभ्यासात्सुप्ताद्यवस्थायामप्यात्मस्वरूपसंवित्त्यवैकल्यात् ॥ ९४ ॥

कुतस्तदा तदवैकल्यमित्याह—

यत्रैवाहितधीः पुंसः श्रद्धा तत्रैव जायते ।
यत्रैव जायते श्रद्धा चित्तं तत्रैव लीयते ॥ ९५ ॥

(विदिताशेषशास्त्रः अपि) सम्पूर्ण शास्त्रोंका जानने वाला होनेपर भी तथा (जाग्रत् अपि) जागता हुआ भी (न मुच्यते) कर्मबंधनसे नहीं छूटता है । किन्तु (ज्ञातात्मा) जिसने आत्माके स्वरूपको देहसे भिन्न अनुभव कर लिया है ऐसा विवेकी अन्तरात्मा (सुप्तोन्मत्तः अपि) सोता और उन्मत्त हुआ भी (मुच्यते) कर्मबंधनसे मुक्त होता है—विशिष्टरूपसे कर्मोंकी निर्जरा करता है ।

भावार्थ—अनेक शास्त्रोंके जानने तथा जाग्रत रहनेपर भी भेदविज्ञान एवं देहसे आत्माको भिन्न करनेकी रुचिके बिना मुक्तिकी प्राप्ति नहीं हो सकती । देहात्मदृष्टिका शास्त्रज्ञान तोतेकी राम राम रटनके समान भावभासनाके बिना आत्महितका साधक नहीं हो सकता । प्रत्युत इसके, भेद-विज्ञानी होनेपर सुप्त और उन्मत्त-जैसी अवस्थाएँ भी आत्माका कोई विशेष अहित नहीं कर सकतीं, क्योंकि दृढतर अभ्यासके वश उन अवस्थाओंमें भी आत्मस्वरूप-संवेदनसे च्युति न होनेके कारण विशिष्टरूपसे कर्मनिर्जरा होती रहती है, और यह कर्मनिर्जरा ही बन्धनका पयवसान एवं मुक्तिका निशान है । अतएव भेदविज्ञानको प्राप्त करके उसमें अपने अभ्यासको दृढ करना सर्वोपरि मुख्य और उपादेय है । ॥ ९४ ॥

सुप्तादि अवस्थाओंमें भी स्वरूप संवेदन क्योंकर बना रहता है, इस बातको स्पष्ट करते हैं—

टीका—यत्रैव यस्मिन्नेव विषये आहितधीः दत्तावधाना बुद्धिः। "यत्रात्महितधीरिति च पाठः यत्रात्मनो हितमुपकारस्तत्र धीबुद्धिरिति"। कस्य ? पुंसः। श्रद्धा रुचिस्तस्य तत्रैव तस्मिन्नेव विषये जायते। यत्रैव जायते श्रद्धा चित्तं तत्रैव लीयये आसक्तं भवति ॥ ९५ ॥

क्व पुनरनासक्तं चित्तं भवतीत्याह—

यत्रानाहितधीः पुंसः श्रद्धा तस्मान्निवर्तते।
यस्मान्निवर्तते श्रद्धा कुतश्चित्तस्य तल्लयः ॥९६॥

टीका—यत्र यस्मिन्विषये अनाहितधीरदत्तावधाना बुद्धिः। "यत्रैवा-हितधीरिति च पाठः यत्र च अहितधीरनुपकारकबुद्धिः।" कस्य ? पुंसः।

अन्वयार्थ—(यत्र एव) जिस किसी विषयमें (पुंसः) पुरुषकी (आहितधीः) दत्तावधानरूप बुद्धि होती है (तत्रैव) उसी विषयमें उसकी (श्रद्धा जायते) श्रद्धा उत्पन्न होजाती है और (यत्र एव) जिस विषयमें (श्रद्धा जायते) श्रद्धा उत्पन्न होजाती है (तत्रैव) उस विषयमें ही (चित्तं लीयते) उसका मन लीन हो जाता है—तन्मय बन जाता है।

भावार्थ—जिस विषयमें किसी मनुष्यकी बुद्धि संलग्न होती है—खूब सावधान रहती है—उसीमें आसक्ति बढ़कर उसकी श्रद्धा उत्पन्न होजाती है, और जहां श्रद्धा उत्पन्न होजाती है वहीं चित्त लीन रहता है। चित्तकी यह लीनता ही सुप्त और उन्मत्त-जैसी अवस्थाओंमें मनुष्यको उस विषयकी ओरसे हटने नहीं देती—सोतेमें भी वह उसीके स्वप्न देखता है और पागल होकर भी उसीकी बातें किया करता है ॥ ९५ ॥

अब चित्त कहांपर अनासक्त होता है, उसे बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(यत्र) जिस विषयमें (पुंसः) पुरुषकी (अनाहितधीः) बुद्धि दत्तावधानरूप नहीं होती (तस्मात्) उससे (श्रद्धा) रुचि (निवर्तते) हट जाती है—दूर होजाती है (यस्मात्) जिससे श्रद्धा (निवर्तते) हट जाती है (चित्तस्य) चित्तकी (तल्लयः कुतः) उस विषयमें लीनता कैसे हो सकती है ? अर्थात् नहीं होती।

तस्माद्विषयात्सकाशात् श्रद्धा निवर्तते । यस्मान्निवर्तते श्रद्धा कुतश्चित्तस्य तल्लयः तस्मिन् विषये लय आसक्तिस्तल्लयः कुतो नैव कुतश्चिदपि ॥९६॥

यत्र च चित्तं विलीयते तद्ध्येयं भिन्नमभिन्नं च भवति, तत्र भिन्नात्मनि ध्येये फलमुपदर्शयन्नाह—

भिन्नात्मानमुपास्यात्मा परो भवति तादृशः ।
वर्तिर्दीपं यथोपास्य भिन्ना भवति तादृशी ॥९७॥

टीका—भिन्नात्मानमाराधकात् पृथग्भूतमात्मानमर्हत्सिद्धरूपं उपास्याराध्य आत्मा आराधकः पुरुषः परः परमात्मा भवति तादृशोऽर्हत्सिद्धस्वरूपसदृशः । अत्रैवार्थे दृष्टान्तमाह—वर्तिरित्यादि । दीपाद्भिन्ना वर्तिर्यथा दीपमुपास्य प्राप्य तादृशी भवति दीपरूपा भवति ॥ ९७ ॥

भावार्थ—जिस विषयमें किसी मनुष्यकी बुद्धि संलग्न नहीं होती—भले प्रकार सावधान नहीं रहती—उससेंसे अनासक्ति बढ़कर श्रद्धा उठजाती है, और जहांसे श्रद्धा उठजाती है वहां फिर चित्तकी लीनता नहीं हो सकती। अतः किसी विषयमें आसक्ति न होनेका रहस्य बुद्धिको उस विषयकी ओर अधिक न लगाना ही है—बुद्धिका जितना कम व्यापार उस तरफ किया जायगा और उसे अहितकारी समझकर जितना कम योग दियाजायगा उतनी ही उस विषयमें अनासक्ति होती जायगी। और फिर सुप्त तथा उन्मत्त अवस्था होजानेपर भी उस ओर चित्तकी वृत्ति नहीं जायगी ॥ ९६ ॥

जिस विषयमें चित्त लीन होना चाहिये वह ध्येय दो प्रकारका है—एक भिन्न, दूसरा अभिन्न। भिन्नात्मा ध्येय में लीनताका फल क्या होगा, उसे बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(आत्मा) यह आत्मा (भिन्नात्मानं) अपनेसे भिन्न अर्हन्तसिद्धरूप परमात्माकी (उपास्य) उपासना-आराधना करके (तादृशः) उन्हींके समान (परः भवति) परमात्मा होजाता है (यथा) जैसे (भिन्ना वर्तिः) दीपकसे भिन्न अस्तित्व रखनेवाली बत्ती भी (दीपं उपास्य) दीपककी आराधना करके-उसका सामीप्य प्राप्त करके (तादृशी) दीपक स्वरूप (भवति)

इदानीमभिन्नात्मनोपासने फलमाह—

उपास्यात्मानमेवात्मा जायते परमोऽथवा ।
मथित्वाऽऽत्मानमात्मैव जायतेऽग्निर्यथा तरुः ॥ ९८ ॥

टीका—अथवा आत्मानमेव चित्स्वरूपमेव चिदानन्दमयमुपास्य आत्मा परमः परमात्मा जायते । अमुमेवार्थं दृष्टान्तद्वारेण समर्थयमानः प्राह—मथित्वेत्यादि । यथाऽऽत्मानमेव मथित्वा घर्षयित्वा तरुरात्मा (?) तरुः स्वत एवाग्निर्जायते ॥ ९८ ॥

होजाता है ।

भावार्थ—जिसमें चित्तको लगाना चाहिये ऐसा आत्मध्येय दो प्रकार का है—एक तो स्वयं अपना आत्मा, जिसे अभिन्न ध्येय कहते हैं; और दूसरा वह भिन्न आत्मा जिसमें आत्मगुणोंका पूर्ण विकास होगया हो, जैसे अर्हन्त-सिद्धका आत्मा, और जिसे भिन्न ध्येय समझना चाहिये । ऐसे भिन्न ध्येयकी उपासनासे भी आत्मा परमात्मा बनजाता है । इसको समझानेके लिये बत्ती और दीपकका दृष्टान्त बड़ा ही सुन्दर दिया गया है । बत्ती अपना अस्तित्व और व्यक्तित्व भिन्न रखते हुए भी जब दीपककी उपासनामें तन्मय होती है—दीपकका सामीप्य प्राप्त करती है—तो जल उठती है और दीपकस्वरूप बन जाती है । यही भिन्नात्मध्येयरूप अर्हन्त-सिद्धकी उपासनाका फल है ॥ ९७ ॥

अब अभिन्नात्माकी उपासनाका फल बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(अथवा) अथवा (आत्मा) यह आत्मा (आत्मानम् एव) अपने चित्स्वरूपको ही (उपास्य) चिदानन्दमय रूपमें आराधन करके (परमः) परमात्मा (जायते) होजाता है (यथा) जैसे (तरुः) बांसका वृक्ष (आत्मानं) अपनेको (आत्मैव) अपनेसे ही (मथित्वा) रगड़कर (अग्निः) अग्निरूप (जायते) होजाता है ।

भावार्थ—जिस प्रकार बांसका वृक्ष बांसके साथ रगड़ खाकर अग्निरूप होजाता है उसी प्रकार यह आत्मा भी आत्माकी-आत्मीय गुणोंकी-आराधना करके परमात्मा बन जाता है । बांसके वृक्षमें जिस प्रकार अग्नि

उक्तमर्थमुपसंहृत्य फलमुपदर्शयन्नाह—

इतीदं भावयेन्नित्यमवाचांगोचरं पदम् ।
स्वतएव तदाप्नोति यतो नावर्तते पुनः ॥ ९९ ॥

इति एवमुक्तप्रकारेण इदं भिन्नमभिन्नं चात्मस्वरूपं भावयेत् नित्यं सर्वदा । ततः किं भवति ? तत्पदं मोक्षस्थानं । कथम्भूतं ? अवाचांगोचरं वचनैरनिर्देश्यं । कथं तत्प्राप्नोति ? स्वत एव आत्मनैव परमार्थतो न पुनर्गुर्वादिबाह्यनिमित्तात् । यतः प्राप्तात् तत्पदान्नावर्तते संसारे पुनर्न भ्रमति ॥ ९९ ॥

शक्तिरूपसे विद्यमान होती है और अपने ही बांसरूपके साथ घर्षणका निमित्त पाकर प्रकट होजाती है उसी प्रकार आत्मामें भी पूर्ण ज्ञानादि गुण शक्तिरूपसे विद्यमान होते हैं और वे आत्माका आत्माके साथ संघर्ष होनेपर प्रकट होजाते हैं । अर्थात् जब आत्मा आत्मीय गुणोंकी प्राप्तिके लिये अपने अन्य बाह्याभ्यंतर संकल्प-विकल्परूप व्यापारोंसे उपयोगको हटाकर स्वरूप-चिंतनमें एकाग्र कर देता है तो उसके वे गुण प्रकट होजाते हैं—उस संघर्षसे ध्यानरूपी अग्नि प्रकट होकर कर्मरूपी ईंधनको जला देती है। और तभी यह आत्मा परमात्मा बन जाता है ॥ ९८ ॥

अब उक्त अर्थका उपसंहार करके फल दिखाते हुए कहते हैं—

अन्वयार्थ—(इति) उक्त प्रकारसे (इदं) भेद-अभेदरूप आत्मस्वरूपकी (नित्यं) निरन्तर (भावयेत्) भावना करनी चाहिये । ऐसा करनेसे (तत्) उस (अवाचांगोचरं पदं) अनिर्वचनीय परमात्मपदको (स्वत एव) स्वयं ही यह जीव (आप्नोति) प्राप्त होता है (यतः) जिस पदसे (पुनः) फिर (न आवर्तते) लौटना नहीं होता है--पुनर्जन्म लेकर संसारमें भ्रमण करना नहीं पड़ता है ।

भावार्थ—आत्मस्वरूपकी प्राप्तिके लिये आत्मस्वरूके पूर्ण विकासको प्राप्त हुए अर्हन्त और सिद्ध परमात्माका हमें निरंतर ध्यान करना चाहिये—तद्रूप होनेकी भावनामें रत रहना चाहिये—अथवा अपने आत्माको आत्मस्वरूपमें स्थिर करनेका दृढ़ अभ्यास करना चाहिये। ऐसा

न चासौ तत्त्वचतुष्टयात्मकाच्छरीरात्तत्त्वान्तरभूतः सिद्ध इति चार्वाकाः। सदैवात्मा मुक्तः सर्वदा स्वरूपोपलम्भसम्भवादिति सांख्यास्तान् प्रत्याह—

अयत्नसाध्यं निर्वाणं चित्तत्त्वं भूतजं यदि।
अन्यथा योगतस्तस्मान्न दुःखं योगिनां क्वचित्॥ १००॥

टीका—चित्तत्त्वं चेतनालक्षणं तत्त्वं यदि भूतजं पृथिव्यप्तेजोवायु-लक्षणभूतेभ्यो जातं यद्यभ्युपगम्यते तदाऽयत्नसाध्यं निर्वाणं यत्नेन तात्पर्येण

होनेपर ही उस वचन-अगोचर अतीन्द्रिय परमात्मपदकी प्राप्ति हो सकेगी, जिसे प्राप्त करके फिर इस जीवको दूसरा जन्म लेकर संसारमें भटकना नहीं पड़ता—वह सदाके लिये अपने ज्ञानानन्दमें मग्न रहता है और सब प्रकारके दुःखोंसे छूट जाता है॥ ९९॥

वह आत्मा पृथ्वी जल अग्नि वायु इन चार तत्त्वरूप जो शरीर है उससे भिन्न किसी दूसरे तत्त्वरूप सिद्ध नहीं होता है, ऐसा चार्वाक मत वाले मानते हैं, तथा आत्माके सदा स्वरूपकी उपलब्धि संवेदना बनी रहनेसे वह सदा ही मुक्त है, ऐसा सांख्यलोगोंका मत, है इन दोनोंको लक्ष करके उनके प्रति आचार्य कहते हैं—

अन्वयार्थ—(चित्तत्त्वम्) चेतना लक्षणवाला यह जीव तत्त्व (यदि भूतजं) यदि भूतज है—चार्वाकमतके अनुसार पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुरूप भूतचतुष्टयसे उत्पन्न हुआ है अथवा सांख्यमतके अनुसार सहज शुद्धात्मस्वरूपसे उत्पन्न है—उस शुद्धात्मस्वरूपके संवेदनद्वारा लब्धात्मरूप है, तो (निर्वाणं) मोक्ष (अयत्नसाध्यं) यत्नसे सिद्ध होनेवाला नहीं रहेगा अर्थात् चार्वाकमतकी अपेक्षा, जो कि शरीरके छूट जानेपर आत्मामें किसी विशिष्टावस्थाकी प्राप्तिका अभाव बतलाता है, मरणरूप शरीरका विनाश होनेसे आत्माका अभाव होजायगा और यही अभाव बिना यत्नका निर्वाण होगा, जो इष्ट नहीं हो सकता। और सांख्यमतकी अपेक्षा स्वभावसे ही सदा शुद्धात्मस्वरूपका लाभ मानलेनेसे मोक्षके लिये ध्यानादिकः कोई उपाय करनेकी भी आवश्यकता नहीं रहेगी, और इस तरह निरुपाय-मुक्तिकी प्रसिद्धि होनेसे बिना यत्नके ही निर्वाण होना ठहरेगा जो उस मतके अनुयायियोंका भी इष्ट नहीं है। (अन्यथा)

साध्यं निर्वाणं न भवति । एतच्छरीरपरित्यागेन विशिष्टावस्थाप्राप्तयोगस्यात्मन एव तन्मते अभावादित्यात्मनो मरणरूपविनाशादुत्तरकालमभावः । सांख्यमते तु भूतजं सहजं भवनं भूतं शुद्धात्मतत्त्वं तत्र जातं तत्स्वरूपसंवेदकत्वेन लब्धात्मलाभं एवंविधं चित्तत्त्वं यदि तदाऽयत्नसाध्यं निर्वाणं यत्नेन ध्यानानुष्ठानादिना साध्यं न भवति निर्वाणं । सदा शुद्धात्मस्वरूपानुभवे सर्वदैवात्मनो निरुपायमुक्तिप्रसिद्धेः । अथवा निष्पन्नेतरयोग्यपेक्षया अयत्नेत्यादिवचनम् । तत्र निष्पन्नयोग्यपेक्षया चित्तत्त्वं भूतजं स्वभावजं । भूतशब्दोऽत्र स्वभाववाची । मनो वाक्कायेन्द्रियैरविक्षिप्तमात्मस्वरूपं भूतं तस्मिन जातं तत्स्वरूपसंवेदकत्वेन लब्धात्मलाभं एवंविधं चित्तत्त्वं यदि तदाऽयत्नसाध्यं निर्वाणं तथाविधमात्मस्वरूपमनुभवतः कर्मबंधाभावतो निर्वाणस्याप्रयाससिद्धत्वात् । अथवा अन्यथा प्रारब्धयोग्यपेक्षया भूतजं चित्तत्त्वं न भवति । तदा योगतः स्वरूपसंवेदनात्मकचित्तवृत्तिनिरोधाभ्यासप्रकर्षान्निर्वाणं । यत एवं तस्मात् क्वचिदप्यवस्थाविशेषे दुर्धरानुष्ठाने छेदनभेदनादौ वा योगिनां दुःखं न भवति । आनन्दात्मकस्वरूपसंवित्तौ तेषां तत्प्रभवदुःखसंवेदनासम्भवात् ॥ १०० ॥

यदि चैतन्य आत्मा भूतचतुष्टयजन्य तथा सदाशुद्धात्मस्वरूपका अनुभव करने वाला नित्य-मुक्त नहीं है । तो फिर (योगतः) योगसे-स्वरूप संवेदनात्मक चित्तवृत्तिके निरोधका दृढ अभ्यास करनेसे ही निर्वाणकी प्राप्ति होगी (तस्मात्) चूंकि वस्तुतत्त्वकी ऐसी स्थिति है इसलिये (योगिनां) निर्वाणके लिये प्रयत्नशील योगियोंको (क्वचित्) किसी भी अवस्थामें—दुर्द्धरानुष्ठानके करने तथा छेदन-भेदनादिरूप उपसर्गके उपस्थित होनेपर—(दुःखं न) कोई दुःख नहीं होता है ।

भावार्थ—आत्मतत्त्व यद्यपि चेतनामय नित्य पदार्थ है परन्तु अनादि-कर्मपुद्गलोंके सम्बन्धसे विभावपरिणतिरूप परिणम रहा है और अपने स्वरूपमें स्थिर नहीं है। ध्यानादि सत्प्रयत्न द्वारा उस परिणतिका दूर होना ही स्वरूपमें स्थिर होना है और उसीका नाम निर्वाण है । चार्वाककी कल्पनानुसार यह जीवात्मा भूतचतुष्टयजन्य नहीं है । भूतचतुष्टयजन्य अनित्य शरीरको आत्मा मानना भ्रम तथा मिथ्या है और ऐसा माननेसे

नन्वात्मना मरणरूपविनाशादुत्तरकालमभावसिद्धेः कथं सर्वदाऽस्तित्वं सिध्येदिति वदन्तं प्रत्याह—

स्वप्ने दृष्टे विनष्टेऽपि न नाशोऽस्ति यथाऽऽत्मनः।
तथा जागरदृष्टेऽपि विपर्यासाविशेषतः ॥ १०१ ॥

शरीरका नाश होनेपर आत्माका स्वतः अभाव हो जाना ही निर्वाण ठहरेगा, जो किसी तरह भी इष्ट नहीं हो सकता। ऐसा कौन बुद्धिमान है जो स्वयं ही अपने नाशका प्रयत्न करे? इसी तरह सांख्यमतकी कल्पनाके अनुसार आत्मा सदा ही शुद्ध-बुद्ध तथा स्वरूपोपलब्धिको लिये हुए नित्यमुक्तस्वरूप भी नहीं है। ऐसा माननेपर निर्वाणके लिये ध्यानादिके अनुष्ठानका कोई प्रयोजन तथा विधान नहीं बन सकेगा। सांख्यमतमें निर्वाणके लिये ध्यानादिका विधान है और इस लिये सदा शुद्धात्मस्वरूपकी उपलब्धिरूप मुक्तिकी वह कल्पना निःसार जान पड़ती है। जब ये दोनों कल्पनाएँ ठीक नहीं हैं तब जैनमतकी उक्त मान्यताको मानना ही ठीक होगा, और उसके अनुसार योगाराधनद्वारा स्वरूपसंवेदनात्मक चित्तवृत्तिके निरोधका दृढ अभ्यास करके सकल विभावपरिणतिको हटाते हुए शुद्धात्मस्वरूपमें स्थितिरूप निर्वाणका होना बन सकेगा। इस आत्मसिद्धिके सदुद्देश्यको लेकर जो योगिजन योगाभ्यासमें प्रवृत्त होते हैं वे स्वेच्छासे अनेक दुर्धर तपश्चरणोंका अनुष्ठान करते हुए खेदखिन्न नहीं होते और न दूसरोंके किये हुए अथवा स्वयं बन आए हुए उपसर्गोंपर दुःख ही मानते हैं—ऐसी घटनाओंके घटनेपर वे बराबर अपने साम्यभावको स्थिर रखते हैं ॥ १०० ॥

यदि कोई कहे कि मरणरूप विनाशके समुपस्थित होनेपर उत्तर-कालमें आत्माका सदा अस्तित्व कैसे बन सकता है? ऐसा कहने वालों के प्रति आचार्य कहते हैं—

अन्वयार्थ—(स्वप्ने) स्वप्नकी अवस्थामें (दृष्टे विनष्टे अपि) प्रत्यक्ष देखेजाने वाले शरीरादिके विनाश होनेपर भी (यथा) जिस प्रकार (आत्मनः) आत्माका (नाशः न अस्ति) नाश नहीं होता है (तथा) उसी प्रकार (जागरदृष्टे अपि) जाग्रत अवस्थामें भी दृष्ट शरीरादिकका विनाश होनेपर आत्मा

टीका—स्वप्ने स्वप्नावस्थायां दृष्टे विनष्टेऽपि शरीरादौ आत्मनो यथा नाशो नास्ति तथा जागरदृष्टेऽपि जाग्रदवस्थायां दृष्टे विनष्टेऽपि शरीरादौ आत्मनो नाशो नास्ति। ननु स्वप्नावस्थायां भ्रांतिवशादात्मनो विनाशः प्रतिभातीति चेत्तदेतदन्यत्रापि समानं। न खलु शरीरविनाशे आत्मनो विनाशमभ्रान्तो मन्यते। तस्मादुभयत्राप्यात्मनो विनाशोऽनुपपन्नो विपर्यासाविशेषात्। यथैव हि स्वप्नावस्थायामविद्यमानेऽप्यात्मनो विनाशे विनाशः प्रतिभासत इति विपर्यासः तथा जाग्रदवस्थायामपि ॥ १०१ ॥

नन्वेवं प्रसिद्धस्याप्यनाद्यनिधनस्यात्मनो मुक्त्यर्थं दुर्द्धरानुष्ठानक्लेशो व्यर्थो ज्ञानभावनामात्रेणैव मुक्तिसिद्धेरित्याशङ्क्याह—

*अदुःखभावितं ज्ञानं क्षीयते दुःखसन्निधौ।
तस्माद्यथाबलं दुःखैरात्मानं भावयेन्मुनिः ॥१०२॥

का नाश नहीं होता है। (विपर्यासाविशेषतः) क्योंकि दोनों ही अवस्थाओं में जो विपरीत प्रतिभास होता है उसमें परस्पर कोई भेद नहीं है।

भावार्थ—आत्मा वास्तवमें सत् पदार्थ है और सतका कभी नाश नहीं होता—पर्यायें ज़रूर पलटा करती हैं। स्वप्नमें शरीरका नाश होनेपर जिसप्रकार आत्माके नाशका भ्रम होजाता है किन्तु आत्माका नाश नहीं होता उसीप्रकार जाग्रत अवस्थामें भी शरीरपर्यायके विनाशमें जो आत्माका विनाश समझ लिया जाता है वह भ्रम ही है—दोनों ही अवस्थाओंमें होनेवाले भ्रम समान हैं—एकको भ्रम मानना और दूसरेको भ्रम माननेसे इनकार करना ठीक नहीं है। वस्तुतः झोंपड़ीके जलने पर जैसे तद्गत आकाश नहीं जलता वैसे ही शरीरके नष्ट होनेपर आत्मा भी नष्ट नहीं होता है। आत्मा एक अखंड और अविनाशी पदार्थ है उसके खण्ड तथा विनाशकी कल्पना करना ही नितान्त मिथ्या है ॥ १०१ ॥

जब इसप्रकार आत्मा अनादिनिधन प्रसिद्ध है तो उसकी मुक्तिके लिये दुर्द्धर तपश्चरणादिके द्वारा कष्ट उठाना व्यर्थ है; क्योंकि मात्र ज्ञान-

* सुहेण भाविदं णाणं दुहे जादे विणस्सदि।
तम्हा जहाबलं जोई अप्पा दुक्खेहिं भावए ॥ ६२ ॥
—मोक्षप्राभृते, कुन्दकुन्दः

टीका—अदुःखेन कायक्लेशादिकष्टं विना सुकुमारोपक्रमेण भावितमेकाग्रतया चेतसि पुनः पुनः संचिन्तितं ज्ञानं शरीरादिभ्यो भेदेनात्मस्वरूपपरिज्ञानं क्षीयते अपकृष्यते। कस्मिन् ? दुःखसन्निधौ दुःखोपनिपाते सति। यत एवं तस्मात्कारणात् यथाबलं स्वशक्त्यनतिक्रमेण मुनिर्योगी आत्मानं दुःखैर्भावयेत् कायक्लेशादिकष्टैः सदाऽऽत्मस्वरूपं भावयेत्। कष्टसहो भवन्सदाऽऽत्मस्वरूपं चिन्तयेदित्यर्थः ॥ १०२ ॥

ननु यद्यात्मा शरीरात्सर्वथाभिन्नस्तदा कथमात्मनि चलति नियमेन तच्चलेत् तिष्ठति तिष्ठेदिति वदन्तं प्रत्याह—

प्रयत्नादात्मनो वायुरिच्छाद्वेषप्रवर्तितात् ।
वायोः शरीरयंत्राणि वर्तन्ते स्वेषु कर्मसु ॥ १०३ ॥

भावनामें ही मुक्तिकी सिद्धि होती है, ऐसी आशंका करने वालेके प्रति आचार्य कहते हैं—

अन्वयार्थ—(अदुःखभावितं ज्ञानं) जो भेदविज्ञान दुःखोंकी भावनासे रहित है—उपार्जनके लिये कुछ कष्ट उठाए विना ही सहज सुकुमार उपाय-द्वारा बन आता है—वह (दुःखसन्निधौ) परिषह-उपसर्गादिक दुःखोंके उपस्थित होनेपर (क्षीयते) नष्ट होजाता है। (तस्मात्) इस लिये (मुनिः) अन्तरात्मा योगीको (यथाबलं) अपनी शक्तिके अनुसार (दुःखैः) दुःखोंके साथ (आत्मानं भावयेत्) आत्माकी शरीरादिसे भिन्न भावना करना चाहिये।

भावार्थ—जबतक योगी कायक्लेशादि तपश्चरणोंका अभ्यास करके कष्टसहिष्णु नहीं होता तबतक उसका ज्ञानाभ्यास—शरीरसे भिन्न आत्माका अनुभवन—भी स्थिर रहनेवाला नहीं होता। वह दुःखोंके आजानेपर विचलित होजाता है और सारा भेदविज्ञान भूल जाता है। इस लिये ज्ञानभावनाके साथ कष्ट-सहनका अभ्यास होना चाहिये, जिससे उपार्जन किया हुआ ज्ञान नष्ट न होने पावे ॥ १०२ ॥

यदि आत्मा शरीरसे सर्वथा भिन्न है तो फिर आत्माके चलनेपर नियमसे शरीर कैसे चलता है और आत्माके ठहरनेपर शरीर कैसे ठहरता

टीका—आत्मनः सम्बंधिनः प्रयत्नाद्वायुः शरीरे समुच्चलति कथंभूतात् प्रयत्नात् ? इच्छाद्वेषप्रवर्तितात् रागद्वेषाभ्यां जनितात्। तत्र समुच्चलिताच्च वायोः शरीरयंत्राणि शरीराण्येव यंत्राणि शरीरयंत्राणि। किं पुनः शरीराणां यंत्रैः साधर्म्यं यतस्तानि यन्त्राणीत्युच्यन्ते ? इति चेत् उच्यते—यथा यंत्राणि काष्ठादिविनिर्मितसिंहव्याघ्रादीनि स्वसाध्यविविधक्रियाणां परप्रेरितानि प्रवर्तन्ते तथा शरीराण्यपीत्युभयोस्तुल्यता। तानि शरीरयंत्राणि वायोः सकाशाद्वर्तन्ते। केषु ? कर्मसु। कथम्भूतेषु ? स्वेषु स्वसाध्येषु ॥ १०३ ॥

तेषां शरीरयंत्राणामात्मन्यारोपाऽनारोपौ कृत्वा जडविवेकिनौ किं कुर्वत इत्याह—

है ? ऐसा पूछनेवालेके प्रति कहते हैं—

अन्वयार्थ—(आत्मनः) आत्माके (इच्छाद्वेषप्रवर्तितात् प्रयत्नात्) राग और द्वेषकी प्रवृत्तिसे होनेवाले प्रयत्नसे (वायुः) वायु उत्पन्न होती है—वायुका शरीरमें संचार होता है (वायोः) वायुके संचारसे (शरीरयंत्राणि) शरीररूपी यंत्र (स्वेषु कर्मसु) अपने अपने कार्य करनेमें (वर्तन्ते) प्रवृत्त होते हैं।

भावार्थ—पूर्वबद्ध कर्मोंके उदयसे आत्मामें राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं, राग द्वेषकी उत्पत्तिसे मन-वचन-कायकी क्रियारूप जो प्रयत्न उत्पन्न होता है उससे आत्माके प्रदेश चंचल होते हैं, आत्मप्रदेशोंकी चंचलतासे शरीरके भीतरकी वायु चलती है और उस वायुके चलनेसे शरीररूपी यंत्र अपना अपना कार्य करनेमें प्रवृत्त होते हैं। यदि कोई कहे कि शरीरोंकी यंत्रोंके साथ क्या कोई समान-धर्मता है जिसके कारण उन्हें यंत्र कहा जाता है तो इसके उत्तरमें इतना ही जानलेना चाहिये कि काष्ठादिके बनाये हुए हाथी घोड़े आदिरूप कलदार खिलौने जिस प्रकार दूसरोंकी प्रेरणाको पाकर हिलने-चलने लगजाते हैं—अर्थात् अपनेसे किये जाने योग्य नाना प्रकारकी क्रियाओंमें प्रवृत्त होते हैं, उसी प्रकार शरीरके अंग-उपांग भी वायुकी प्रेरणासे अपने योग्य कर्मोंके करनेमें प्रवृत्त होते हैं। दोनों ही इस विषयमें समान हैं ॥ १०३ ॥

उन शरीर-यंत्रोंकी आत्मामें आरोपना-अनारोपना करके जड़-विवेकी जीव क्या करते हैं, उसे बतलाते हैं—

तान्यात्मनि समारोप्य साक्षाण्यास्तेऽसुखं जडः ।
त्यक्त्वाऽरोपं पुनर्विद्वान् प्राप्नोति परमं पदम् ॥ १०४ ॥

टीका—तानि शरीरयंत्राणि साक्षाणि इंद्रियसहितानि आत्मनि समारोप्य गौरोऽहं सुलोचनोऽहमित्याद्यभेदरूपतया आत्मन्यध्यारोप्य जडो बहिरात्मा असुखं सुखं वा यथा भवत्येवमास्ते । विद्वानन्तरात्मा पुनः प्राप्नोति किं ? तत्परमं पदं मोक्षं । किं कृत्वा ? त्यक्त्वा । कं ? आरोपं शरीरादीनामात्मन्यध्यवसायम् ॥ १०४ ॥

कथमसौ तं त्यजतीत्याह—अथवा स्वकृतग्रन्थार्थमुपसंहृत्य फलमुपदर्शयन्मुक्त्वेत्याह—

मुक्त्वा परत्र परबुद्धिमहंधियं च,
संसारदुःखजननीं जननाद्विमुक्तः ।

अन्वयार्थ—(जडः) मूर्ख बहिरात्मा (साक्षाणि) इन्द्रियों सहित (तानि) उन औदारिकादि शरीरयंत्रोंको (आत्मनि समारोप्य) आत्मामें आरोपण करके—मैं गोरा हूँ, मैं सुलोचन हूँ इत्यादि रूपसे उनमें आत्मत्वकी कल्पना करके—(असुखं आस्ते) दुःख भोगता रहता है (पुनः) किन्तु (विद्वान्) ज्ञानी अन्तरात्मा (आरोपं त्यक्त्वा) शरीरादिकमें आत्माकी कल्पनाको छोड़कर (परमं पदं) परमपदरूप मोक्षको (प्राप्नोति) प्राप्त करलेता है।

भावार्थ—मूढ बहिरात्मा कर्मप्रेरित शरीर और इंद्रियोंकी क्रियाओंको अपने आत्माका ही क्रियायें समझता है और इस तरह भ्रममें पड़कर विषय-कषायोंके जालमें फँसता हुआ अपनेको दुखी बनाता है। प्रत्युत इसके, विवेकी अंतरात्मा ऐसा न करके शरीर और इंद्रियोंकी क्रियाओंको आत्मासे भिन्न अनुभव करता है और इस तरह विषय-कषायोंके जालमें न फँसकर कर्मबन्धनसे छूटता हुआ परमात्मपदको प्राप्त करके सदाके लिये परमानन्दमय हो जाता है ॥ १०४ ॥

आत्मा उस आरोपको कैसे छोड़ता है उसे बतलाते हैं—अथवा श्री पूज्यपाद आचार्य अपने ग्रंथका उपसंहार करके फल प्रदर्शित करते हुए कहते हैं—

ज्योतिर्मयं सुखमुपैति परात्मनिष्ठ-
स्तन्मार्गमेतदधिगम्य समाधितंत्रम् ॥ १०५ ॥

टीका—उपैति प्राप्नोति । किं तत् ? सुखं । कथम्भूतं ? ज्योतिर्मयं ज्ञानात्मकं । किं विशिष्टं सन्नसौ तदुपैति ? जननाद्विमुक्तः संसाराद्विशेषेण मुक्तः । ततो मुक्तोऽप्यसौ कथम्भूतः सम्भवति ? परमात्मनिष्ठः परमात्म-स्वरूपसंवेदकः । किं कृत्वाऽसौ तन्निष्ठः स्यात् । मुक्त्वा । कां ? परमा-(परा ?)त्मबुद्धिं अहंधियं च स्वात्मबुद्धिं च । क्व ? परत्र शरीरादौ । कथम्भूतां ? संसारदुःखजननीं चातुर्गतिकदुःखोत्पत्तिहेतुभूतां । यतस्तथाभूतां तां त्यजेत् । किं कृत्वा ? अधिगम्य । किं तत ? समाधितंत्रं समाधेः पर-मात्मस्वरूपसंवेदनैकाग्रतायाः परमोदासीनताया वा तन्त्रं प्रतिपादकं शास्त्रं । कथम्भूतं तत ? तन्मार्गं तस्य ज्योतिर्मयसुखस्य मार्गमुपायमिति ॥१०५॥

अन्वयार्थ—(तन्मार्गं) उस परमपदकी प्राप्तिका उपाय बतलाने वाले (एतत् समाधितंत्रम्) इस समाधितंत्रको—परमात्मस्वरूप-संवेदनकी एका-ग्रताको लिये हुए जो समाधि उसके प्रतिपादक इस 'समाधितंत्र' नामक शास्त्रको (अधिगम्य) भलेप्रकार अनुभव करके (परात्मनिष्ठः) परमात्माकी भावनामें स्थिरचित्त हुआ अन्तरात्मा (संसारदुःखजननीं) चतुर्गतिरूप संसारके दुःखोंको उत्पन्न करनेवाली (परत्र) शरीरादि परपदार्थोंमें (अहं-धियं परबुद्धिं च) जो स्वात्मबुद्धि तथा परात्मबुद्धि है उसको (मुक्त्वा) छोड़कर (जननाद्विमुक्तः) संसारसे मुक्त होता हुआ (ज्योतिर्मयं सुखं) ज्ञानात्मक सुखको (उपैति) प्राप्त करलेता है ।

भावार्थ—इस पद्यमें, ग्रंथके विषयका उपसंहार करते हुए, श्री पूज्य-पाद आचार्यने उस बुद्धिको संसारके समस्त दुःखोंकी जननी बतलाया है जो शरीरादि परपदार्थोंमें स्वात्मा-परात्माका आरोप किये हुए है—अर्थात् अपने शरीरादिकको अपना आत्मा और परके शरीरादिको परका आत्मा समझती है । ऐसी दुःखमूलक बुद्धिका परित्याग कर जो जीवा-त्मा परमात्मामें निष्ठावान होता है—परमात्माके स्वरूपको अपना स्वरूप

टीका-प्रशस्तिः

येनात्मा वहिरन्तरुत्तमभिदा त्रेधा विवृत्योदितो,
मोक्षोऽनन्तचतुष्टयाऽमलवपुः सद्ध्यानतः कीर्तितः ।
जीयात्सोऽत्रजिनः समस्तविषयः श्रीपूज्यपादोऽमलो,
भव्यानन्दकरः समाधिशतकश्रीमत्प्रभेन्दुः प्रभुः ॥ १ ॥

इति श्रीपण्डितप्रभाचन्द्रविरचिता समाधिशतकटीका समाप्ता ॥

समझकर उसके आराधनमें तत्पर एवं सावधान होना है—वह संसारके बन्धनोंसे छूटता हुआ केवलज्ञानमय परम सुखको प्राप्त होता है। साथ ही, यह भी बतलाया है कि यह 'समाधितंत्र' ग्रंथ उक्त परमसुख अथवा परमपदकी प्राप्तिका मार्ग है—उपाय प्रदर्शित करने वाला है। इसको भले प्रकार अध्ययन तथा अनुभव करके जीवनमें उतारनेसे वह प्राप्ति सुखसाध्य होजाती है और इस तरह इस ग्रंथकी भारी उपयोगिताको प्रदर्शित किया है॥ १०५ ॥

अन्तिम मंगल-कामना

जिनके भक्ति-प्रसादसे, पूर्ण हुआ व्याख्यान।
सबके उरमंदिर बसो, पूज्यपाद भगवान ॥ १ ॥
पढ़ें सुनें सब ग्रन्थ यह, सेवें अनिहित मान।
आत्म-समुन्नति-बीज जो, करो जगत-कल्यान ॥ २ ॥

समाधितंत्र सटीकका शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५	२४	वाम	ग्राम
५	२९	कालचक्रविनिर्मुक्तं	कालचक्रविनिर्मुक्तः
७	२	आत्मतम्	आत्मानम्
७	९	जलानयोः	जलानलयोः
७	२६	भिन्न	भिन्न भिन्न
८	४	कस्य वा	कस्य वा त्यागः
११	२	लोपमित्यस्य नित्यत्वं	लोपमित्यस्यानित्यत्वं
१२	७	स्वरूपाप्रच्युतः	स्वरूपादप्रच्युतः
१३	१२	इन्द्रियद्वारः	इन्द्रियद्वारैः
१३	२७	मृढदृष्टीआ	मृढदृष्टीओ
१४	३	नरम	नरम्
१४	७	त्रिमन्यते	मन्यते
१४	१९	कनुष्य	मनुष्य
१४	२२	३३	३२
१४	२३	वेन्य	वेत्य
१४	२३	तम्र	नत्र
१५	११	र्वार्य	वीर्यका
१६	२९	३३	३२
१७	५	स्वरूपानां	स्वरूपाणां
१९	६	करोति	करोति देहिनं
२१	५	स एवात्मधर्भाः	स एवात्मा इति धीः
२२	६	इन्द्रियद्वरैः	इन्द्रियद्वारैः
२३	४	लक्षणान	लक्षणान
२६	७	परिज्ञानात्पूर्वं	परिज्ञानात्पूर्वं
३३	१६	फिर उस	उस
३५	५	पाञ्च	पञ्चा
३७	२७	अ त्मानं	आत्मानं
३८	१	अवव्ययं	अव्ययं
३८	६	भुञ्जनोऽपि	भुञ्जानोऽपि
३८	१३	जाना है	जानता है
३९	२	भुञ्जानोऽपि	भुञ्जानोऽपि
४२	४	सस्य चेतसः	यस्य चेतसः
४२	१२	ज्ञानाभ्य स	ज्ञानाभ्यास
४४	४	वाजयेत्	योजयेत्
४४	१६	क्षमो शम	क्षयोपशम
४९	१६	(अचेतन)	(अचेतनं)

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५०	२	मृढा	मूढो
५४	१०	(अम्तु)	(अस्तु)
५८	८	अनात्मीयात्मभूतेषु	अनात्मीयात्मभूतेषु
५८	९	बहिरतमा	बहिरात्मा
६०	३-४	व्यवव्स्थित:	व्यवस्थित:
६१	१	मूढात्मनो	मूढात्मानो
६१	१०	अन्तमु खा	अन्तमु खी
६२	५	एवानुराग दिति	एवानुरागादिति
६९	२२	कमके	कर्मके
७१	३	स्थूलोऽह	स्थूलोऽहं
७१	२६	मुढ उ	मूढ उ
७२	२५	संगर्ग	संसर्ग
७३	१२	सकल्प	संकल्प
७५	६	परमाथतो	परमार्थतो
७५	१४	(निर्वाणिमेव)	(निर्वाणमेव)
७७	२	आत्मनो	आत्मन:
७७	३	विनाशात्पादौ	विनाशोत्पादौ
७७	४	वस्त्र	वस्त्रं
७७	९	मुषुप्ताश्चात्मगोचरे	सुषुप्ताश्चात्मगोचरे
७८	२	जागर्त्यात्मगाचरे	जागर्त्यात्मगोचरे
८०	२७	लतलाते	बतलाते
८२	७	पुण्यापुण्ययोव्ययो	पुण्यापुण्ययोर्व्ययो
८२	२४	।	है ।
८४	१६	मन-हा-मन	मन-ही-मन
८७	९	होना है	होती है
८७	९	अगम-सम्बन्धा	आगम-सम्बन्धी
८९	८	देहाभेदेन	देहाद्भेदेन
८९	२७	मनुय	मनुष्य
९२	२३	पयवसान	पर्यवसान
९२	२६	रहाता	रहता
९३	४	लीयये	लीयते
९६	२४	आत्मस्वरूके	आत्मस्वरूपके
९८	१	निर्वाण	निर्वाणं
९८	३	तत्स्वरू	तत्स्वरूप
९८	४	निर्वाण	निर्वाणं
१०२	१६	कामकी	कायकी

नोट—छूटी मात्रा तथा बिन्दु-विसर्गादिकी दूसरी ऐसी साधारण अशुद्धियोंको यहां देने की ज़रूरत नहीं समझी गई जो पढ़ते समय सहज ही में मालूम पड़ जाती हैं।

समाधितंत्रपद्यानां वर्णानुक्रमसूची